व्याख्यान सार संग्रह पुस्तक माला का २२ वाँ पुष्प,

श्री मज्जवाहिराचार्य के—

श्री भगवती सूत्र पर व्याख्यान

चतुर्थ भाग

सम्पादक-

श्री जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम की तरफ से

पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल न्यायतीर्थ, ब्यावर,
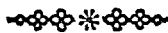
प्रकाशक

मंत्री श्रीसाधुमार्गी जैन-

पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय का

हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम
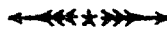
वीराब्द २४७२
विक्रमाब्द २००६
ई० सन् १९५०

पौना—मूल्य
१।)

प्रथम
संस्करण
१०००

प्राप्तिस्थान—
श्री जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल
रतलाम।
श्री जैन जवाहर मित्र मण्डल
मेवाड़ी बाजार, ब्यावर।
श्री मोहनलाल जैन रजोहरण पात्र
भण्डार, अम्बाला (पंजाब)
श्री सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था
बीकानेर (मारवाड़)
श्री जैन जवाहर मण्डल, रायपुर
(सी० पी०)।

प्रकाशक—
श्री साधुमार्गी जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की
सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम.

मुद्रक—
राधाकृष्णात्मज बालमुकन्द शर्मा
श्री शारदा प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम.

आवश्यक निवेदन
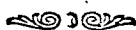
श्रीमज्जैनाचार्य स्वर्गीय पूज्यश्री जवाहिरलालजी महाराज साहब जैन समाज में सुप्रसिद्ध व्याख्याकार हो चूके हैं। उनके प्रवचनों को तत्व विभाग एवं कथा विभाग के रूप में इक्वीस पुस्तक तो मंडल ने प्रकाशित किये हैं और इतने ही पुस्तक श्रीजवाहिर साहित्य समिती भिनासरने "जवाहिर किरणावालियों के रूपमे" प्रकाशित किये हैं!

पूज्यश्री की व्याख्या शक्ति अद्‌भुत थी उन्होंने जैनागमों पर जो मार्मिक व्याख्या की है उसमें से "श्रीभगवती सूत्र के" प्रथम शतक के व्याख्यानों का तिन भागों में पहले प्रकट करचूके है। आज यह चतुर्थ भाग भी आपकी सेवा में प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष है।

प्रथम भागमें केवल सूत्रकी पीठिकाही दीगई है दुसरे भाग म प्रथम शतक के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक की व्याख्या है तीसरे में उद्देशक तक तीन उद्देशकोंकी व्याख्या है और इस चतुर्थ भाग में केवल प्रथम शतक के छठा, सातवां इन दो उद्देशकों की व्याख्या आयी है। अवतो तीन उद्देशकों की व्याख्या रही है वह पंचम भागमें पूर्ण हो जायगी तो ठीक है अन्यथा छठ्ठा भाग में पूर्ण की जायगी। इसी पर से विचार किया जा सकता है कि सम्पूर्ण भगवती सूत्रकी व्याख्या की होती तो न जाने कितने भागों में पूर्ण होती। ऐसे प्रखर व्याख्याकार का स्मारक उनके प्रवचनों को साहित्य रूपमें प्रकाशित करके जनताके हाथों में पहुँचाना ही है, जनता इस

प्रकाशन में जैनागमों के रहस्य एवं तत्व को समझे यही सच्ची साहित्य सेवा है।

इस भगवती सूत्र के व्याख्यानों के सम्पादन का श्रीगणेश श्रीमान सेठ इन्द्रचंद जी साहब गेलड़ा की उदारता एवं श्रीमान ताराचन्दजी साहब गेलड़ा की प्रेरणा से हुवा है अतः उन दोनों महानुभावों को हम हार्दिक आभार प्रदर्शित करते हैं।

इस चतुर्थ भाग के प्रकाशनमें रू. ३०१) तीनसो एक-श्रीमान सेठ रावतमलजी हरकचदजी वोईतरा वीकानेर वालों के तरफ से और बाकी रकम बचत खाते में से लेकर इस पुस्तक का मू० रू. १॥≈ के बजाय पोणामूल्य रू. १।) सवा रूपैया रखा जाता है।

सद्ज्ञान के प्रचारक उदार श्रीमन्तों से निवेदन है कि पांचवें तथा छटेभागके प्रकाशन में अपनी उदारता का परिचय देकर अपने नाम आफिस में नोट करा दें ताकि मंडल के कार्यकर्ताओं की भावनानुसार अल्प मूल्य में साहित्य जनता की सेवामें उपस्थित कर सकें।

अन्तमें हम यह जाहिर कर देना योग्य समझते हैं कि पूज्य श्री के प्रवचन साधुभाषा मेंही होते थे संग्राहक या सम्पादकों से कोई त्रुटि हो गई होतो वह दोष हमारा है। कोई वाक्य जैनागम शास्त्रोंसे विपरीतानिगाह में आवेतो सूचित करनेसे साभार संशोधन कर दिया जायगा। इत्यलम्।

रतलाम फाल्गुन पूर्णिमा २००६।

भवदीय—

हीरालाल नांदेचा
प्रेसिडेन्ट

बालचन्द श्रीश्रीमाल
वाईस प्रेसिडेन्ट

श्रीमद्भगवतीसूत्रम्

(पञ्चमाङ्गम्)

चतुर्थ भाग

प्रथम शतक **षष्ठोद्देशक**
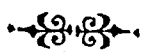
विषय-प्रवेश

प्रत्येक उद्देशक की आदि में जिस प्रकार उपोद्घात किया गया है, उसी प्रकार का यहां भी कर लेना चाहिये। पाँचवें उद्देशक के साथ इस छठे उद्देशक का क्या संबंध है, यह जान लेना आवश्यक है। पाँचवें उद्देशक के अन्त में कहा गया है कि असंख्यात ज्योतिषी देवों के असंख्यात स्थान हैं। जो देव ज्योतिर्मय हैं, उन्हें ज्योतिष्क कहते हैं। चन्द्र, सूर्य, ग्रह नक्षत्र, और तारा, यह पाँच प्रकार के ज्योतिष्क देव हैं।

पाँचवें उद्देशक के अन्त में ज्योतिष्क और वैमानिक देवों का वर्णन किया था। इन दोनों प्रकार के देवों में क्या अन्तर है?

उनका अन्तर यह कि ज्योतिषी देव दिखाई देते हैं, और वैमानिक देव नहीं दिखाई देते।

कई लोग कहते हैं, कि स्वर्ग नहीं देखा, लेकिन स्वर्ग भले ही न देखा हो मगर चन्द्र, सूर्य तो प्रतिदिन दिखाई देते ही हैं। जब चन्द्रमा, और सूर्य, हैं तो उनमें बसने वाले भी कोई देव होंगे ही। यह चन्द्र, और सूर्य हमें जो दिखाई देते हैं, ज्योतिषी देवों के विमान हैं। यही चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, और तारे के रूप में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं। कदाचित् चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह और तारे किसी समय न दिखाई दें तो भी सूर्य तो बिना नागा प्रतिदिन प्रत्यक्ष होता है। अतएव इस उद्देशक में सूर्य के संबंध में प्रश्न करते हैं।

मूल पाठ—प्रश्न—जावइयाओ णं भंते! उवासंतराओ उदयंते सूरिए चक्खुप्फासं हव्व-मागच्छति, अत्थमंते वियणं सूरिए तावतिया-ओ चेव उवासंतराओ चक्खुप्फासं० ।

उत्तर—हंता, गोयमा ! जावइयाओ णं उवासंतराओ उदयंते सूरिए चक्खुप्फासं० । अत्थमंते वि सूरिए जाव हव्वमागच्छति ।

प्रश्न—जावइया णं भंते! खित्तं उदयंते सूरिए आयवेणं सव्वओ समंता ओभासेइ,

उज्जोएइ, तवेइ, पभासेइ, अत्थमंते वियणं सूरिए तावइयं चव खित्तं आयवेणं सव्वओ समंता ओभासेइ, उज्जोएइ, तवेइ पभासेइ ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! जावातियं णं खित्तं जाव—पभासेइ ।

प्रश्न—तं भंते ! किं पुट्ठं ओभासेइ, अपुट्ठं ओभासेइ !

उत्तर—जाव—छद्दिसिं ओभासेति । एवं उज्जोवेइ, तवेइ, पभासेइ, जाव नियमा छद्दिसिं ।

प्रश्न—से णूणं भंते ! सव्वंति सव्वा वंति फुसमाण काल समयंसि जावतियं खेत्तं फुसइ तावतियं 'फुसमाणे पुट्ठे' त्ति वत्तव्वं सिया !

उत्तर—हंता, गोयमा ! सव्वं ति जाव-वत्तव्वं सिया ।

प्रश्न—तं भंते ! किं पुट्ठं फुसइ, अपुट्ठं फुसइ !

उत्तर—जाव-नियमा छद्दिसिं।

—संस्कृत-छाया—प्रश्न—यावतो भगवन्! अवकाशान्तराद् उदयन् सूर्यश्चक्षुःस्पर्श शीघ्रमागच्छति, अस्तमयन्नपि च सूर्यस्तावतश्चैव अवकाशान्तरात् चक्षुःस्पर्शम्?

उत्तर—हन्त गौतम! यावतोऽवकाशान्तराद् उदयत् सूर्यश्चक्षुःस्पर्शम्, अस्तमयन्नपि सूर्यो यावत्-शीघ्र मागच्छति।

प्रश्न—यावद् भगवन्! क्षेत्र मुदयन् सूर्य आतपेन सर्वतः समन्ततोऽवभासयति, उद्योतयति, तपति, प्रभासयति, अस्तमयन्नपि च सूर्यस्तावचैव क्षेत्रम् आतपेन सर्वतः समन्ततोऽवभासयति, उद्योतयति, तपति, प्रभासयति?

उत्तर—हन्त, गौतम! यावत्कं क्षेत्रं यावत् भासयति।

प्रश्न—तद् भगवन्! किं स्पृष्टमवभासयति, अस्पृष्टमवभासयति?

उत्तर—यावत्—षड्दिशमवभासयति, एवमुद्योतयति, तपाति प्रभासयति, यावत् नियमात् षड्दिशम्।

प्रश्न—तद् नूनं भगवन्! सर्वत इति सर्वायमिति स्पृश्यमान काळ समये यावत्कं क्षेत्रं स्पृशति, तावत्कं स्पृश्यमानं स्पृष्टम् इतिवक्तव्यंस्यात्?

उत्तर—हन्त, गौतम! सर्वमिति यावत् वक्तव्यं स्यात्।

प्रश्न—तद् भगवन्! किं स्पृष्टं स्पृशति, अस्पृष्टं स्पृशति?

उत्तर—यावत्-नियमात् षड्दिशम्।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! जितने अवकाशान्तर से अर्थात् जितनी दूरी से उगता सूर्य आँखों से देखा जाता है, उतनी ही दूरी से अस्त होता हुआ सूर्य भी शीघ्र दिखाई देता है ?

उत्तर—हे गौतम ! हाँ, जितनी दूर से उगता सूर्य आँखों से दीखता है, उतनी ही दूर से अस्त होता सूर्य भी आँखों से दिखाई देता है।

प्रश्न—भगवन् ! उगता सूर्य अपने ताप द्वारा जितने क्षेत्र को, सब प्रकार, चारों ओर से सभी दिशाओं और विदिशाओं में-प्रकाशित करता है, उद्योतित करता है, तपाता है और खूब उष्ण करता है, उतने ही क्षेत्र को सब दिशाओं में और सब विदिशाओं में अस्त होता सूर्य भी अपने ताप द्वारा प्रकाशित करता है ? उद्योतित करता है ? तपाता है ? खूब उष्ण करता है ?

उत्तर—गौतम ! हां, उगता सूर्य जितने क्षेत्र को प्रकाशित करता है उतने ही क्षेत्र को अस्त होता सूर्य भी प्रकाशित करता है यावत् खूब उष्ण करता है।

प्रश्न—भगवन् ! सूर्य जिस क्षेत्र को प्रकाशित करता है, वह क्षेत्र सूर्य से स्पृष्ट स्पर्श किया हुआ होता है या अस्पृष्ट होता है ?

उत्तर—गौतम ! वह क्षेत्र सूर्य से स्पृष्ट होता है और यावत् उस क्षेत्र को छहों दिशाओं में प्रकाशित करता है, उद्योतित करता है, तपाता है और खूब तपाता है। यावत् नियमपूर्वक छहों दिशाओं में खूब तपाता है।

प्रश्न—भगवन् ! स्पर्श करने के काल-समय में सर्वाय-सूर्य के साथ संबंध रखने वाले जितने क्षेत्र को सर्व दिशाओं में सूर्य स्पर्श करता है उतना स्पर्श किया जाता हुआ वह क्षेत्र 'स्पृष्ट' कहा जा सकता है ?

उत्तर—गौतम ! हां, सर्व यावत् ऐसा कहा जा सकता है।

प्रश्न—भगवन् ! सूर्य स्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है या अस्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है ?

उत्तर—हे गौतम स्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है। यावत्-नियम से छहों दिशाओं में स्पर्श करता है।

व्याख्यान

गौतम स्वामी का पहला प्रश्न यह है कि-भगवन् ! उगता सूर्य, जितनी दूर से आँखों से दिखाई पड़ता है, क्या डूबता हुआ सूर्य भी उतनी ही दूर से आँखों से नजर आता है ? गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया-हाँ,

गौतम ! उगता हुआ और डूबता हुआ सूर्य, समान दूरी से आँखों से दिखाई देता है।

यहाँ यह आशंका होती है कि गौतम स्वामी ने यह प्रश्न क्यों उठाया है ? इसका क्या प्रयोजन है !

सूर्य के संबंध में एक सौ चौरासी (१८४) मंडल का अधिकार कहा है। कर्क की संक्रान्ति पर सूर्य सर्वाभ्यन्तर (सब के पिछे वाले) मंडल में रहता है। उस समय वह भरत क्षेत्र में रहने वालों को ४७२६३ योजन दूरी से दीखता है। इसीलिए यहाँ गौतम स्वामी ने जितनी दूर से इस प्रकार समुच्चय रूप में कहा है।

इन्द्रियाँ दो प्रकार की है प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी जो इन्द्रियाँ अपने ग्राह्य विषय को स्पर्श करके जानती हैं वह प्राप्यकारी कहलाती हैं। स्पर्शन रसना घ्राण और श्रोत्र यह चार इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं। जबतक स्पर्शनेन्द्रिय के साथ स्पर्श का संबंध न हो तब तक वह स्पर्श को नहीं जान सकती। इसी प्रकार रसना इन्द्रिय के साथ जब रस का स्पर्श होता है। तभी रसना को खट्टे मीठे आदि रस का ज्ञान होता है। यही बात घ्राण के संबंध में हैं। गंध के आधारभूत पुद्गल जब नाक को छूते हैं, तभी नाक सुगंध या दुर्गंध को जान पाता हैं, । कान उसी शब्द को सुनता है, जो कान में आकर टकराता है। अतएव यह चारों इन्द्रियाँ प्राप्यकारी कहलाती हैं। केवल चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है। अर्थात् वह अपने विषय रूप को छुए बिना ही, दूर से देख लेती है। स्पर्श होने पर तो वह अपने में रहे हुए काजल को भी नहीं देख पाती फिर औरों की तो बात ही कहाँ हैं ?

प्रस्तुत प्रश्न में गौतम स्वामी ने चक्षु के साथ स्पर्श कहा है, अतएव यह प्रश्न उपस्थित होता है कि शास्त्र में एक जगह तो चक्षु को अप्राप्यकारी कहा है और यहां चक्षु के साथ सूर्य का स्पर्श होना क्यों कहा है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहां चक्षु के साथ सूर्य का स्पर्श होना कहा है सो यह केवल अलंकार है। जैन शास्त्रों में तो बहुत कम अलंकारिक भाषा का प्रयोग किया गया है, परन्तु पुराणों में अलंकार का इतना बाहुल्य है कि कई लोग भ्रम में पड़ जाते हैं। अलंकारों के भीतर छिपी हुई बात को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। उसी से सचाई का पता चलता है।

यहां सूर्य और आंखों के स्पर्श का अर्थ यह नहीं है कि जैसे आँखों का काजल के साथ सम्बन्ध होता है वैसा सूर्य के साथ भी होता है। सूर्य मंडल आंखों में आ पड़ता है अथवा आँख शरीर से बाहर निकल कर सूर्य मंडल में जा पहुँचती है ऐसा समझना अज्ञान होगा और यह दोनों ही बातें प्रत्यक्ष से बाधित हैं। इस का अर्थ सिर्फ यह है कि अगर आंख पर जरा सा भी पर्दा पड़ा हो या आंख बन्द हो तो सूर्य नहीं दिखेगा। सूर्य का मंडल तभी दिखाई देगा जब आंखें खुली हों और दोनों के बीच अतिशय दूरी न हो तथा अन्य कोई बाधक आड़ न हो। इस प्रकार सूर्य-मंडल के दिखाई देने को ही यहां स्पर्श होना कहा है।

आँखों की शक्ति सूर्य को देखने जितनी नहीं है, न आँखों का इतना विषय ही है। आँख का विषय एक लाख योजन (कल्पना) कहा जाता है यह भी सर्व साधारण को प्राप्त नहीं। लब्धिधारी ही इतनी दूर की वस्तु देख सकता

है। अतएव इतने ऊँचे सूर्य को देखने की शक्ति आँखों में नहीं है। परन्तु सूर्य अपनी रोशनी से ऐसा हो जाता है कि वह छोटे से छोटे को भी दिखाई पड़ता है। आंखों पर भी सूर्य ही प्रकाश डालता है ; तभी आँखें देखने में समर्थ होती हैं। अन्यथा नहीं इस अपेक्षा से सूत्र में चक्षु का स्पर्श कहा है।

बहुत लोग ऐसे हैं जिन्हे स्वर्ग के विषय में सन्देह है। पर क्या दिखाई देने वाला सूर्य--मंडल स्वर्ग के आस्तित्व का प्रमाण नहीं है? जब सूर्य मंडल प्रत्यक्ष है तो उस में रहने वाले भी कोई होंगे ही। आज कल के वैज्ञानिक भी मंगल के तारे में सृष्टि बतलाते हैं और कहते हैं कि वहाँ रहने वालों से बातचीत करने का प्रयत्न जारी है। ऐसी अवस्था में स्वर्ग के विषय में सन्देह कैसे किया जा सकता है?

सिद्धांत कहता है कि स्वर्ग के विषय में संदेह करने की जरूरत नहीं है। स्वर्ग के विषय में सन्देह करने का कारण तब हो सकता था, जब हम स्वर्ग बतलाकर उसका प्रलोभन देकर स्वर्ग पाने का उपदेश देते। जैन सिद्धांत तपस्या का महत्व बतलाता है और इस लोक तथा परलोक संबंधी आकांक्षा का त्याग करने का उपदेश देता है।

बहुत से लोग, जनता को लालच दिखला कर धर्म का उपदेश देते हैं। जैसे ईसाई बिना स्त्री वाले को स्त्री देकर, वस्त्रहीन को वस्त्र और भोजन जिसके पास न हो उसे भोजन देकर अपने धर्म में मिलाते हैं। यद्यपि उनके धर्मग्रंथ बाइबिल में ऐसा करने का नहीं लिखा है कि लालच देकर दूसरे को अपने धर्म में मिलाओ, मगर उनके धर्म गुरूओं ने पोपों और

पादरियों ने यह चाल चलाई है कि लोभ देकर लोगों को अपने धर्म में मिला लिया जाय। जैन धर्म और जैन साधु ऐसा कोई भी लोभ नहीं देते। ऐसी दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि स्वर्ग न होते हुए भी जैन सिद्धांत ने स्वर्ग का अस्तित्व बतलाया है। जैन धर्म तो सब प्रकार के पारलौकिक सुखों की भी कामना न करने का विधान करता है। गीता भी यही कहती है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

कर्त्तव्य करो, फल की कामना मत करो। इस प्रकार का उपदेश प्रलोभनों के त्याग के लिए है, प्रलोभन के लिए नहीं। जैन शास्त्रों में लोभ दिखाने के उद्देश्य से स्वर्ग का वर्णन नहीं किया गया है, बल्कि स्वर्ग का वर्णन करके यह सिखाया गया है कि-हे मनुष्यो! तुम अपने सुखों पर क्या गर्व करते हो! जरा स्वर्ग की सम्पदा को भी देखो, कितनी अनुपम है। लेकिन तुम उसकी भी कामना मत करो। केवल आत्मा और परमात्मा में जुदाई करने वाले कर्मों को नष्ट करने की कामना करो। कर्मों का नाश होने पर ही तुम्हें सच्चे, पूर्ण और स्वाभाविक सुख प्राप्त हो सकते हैं। अतएव स्वर्ग लोक का विधान कल्पित नहीं है और उसमें संदेह करने का कोई कारण भी नहीं है।

सूर्य को देखने की जो बात कही गई है, वह सब जगह और सब समय के लिए एकसी नहीं है। शास्त्रकारों ने प्रत्येक मंडल में सूर्य के दिखलाई देने का हिसाब अलग अलग दिया है। सूर्य जब मंडल में होता है तब भरतक्षेत्र

वालों को ४७२६३ योजन दूर से दिखलाई देता है। अन्यान्य मंडलों में जब सूर्य होता है, तब कितनी-कितनी दूर से देखा जा सकता है, इसका विशद वर्णन जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में दिया गया है। जिज्ञासुओं को वहाँ देख लेना चाहिए।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! उगता हुआ सूर्य जितने लम्बे-चौड़े, ऊँचे या गहरे क्षेत्र को प्रकाशित करता है, उद्योतित करता है, तपाता है और खूब तपाता है, उसी तरह क्या डूबता हुआ सूर्य भी उतने ही लम्बे, चौड़े, गहरे और ऊँचे क्षेत्र को प्रकाशित करता है? उद्योतित करता है तपाता है और खूब तपाता है? अथवा कम-ज्यादा क्षेत्र को? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—हे गौतम ! उगता हुआ सूर्य जितने क्षेत्र को प्रकाशित आदि करता है, उतने ही क्षेत्र को डूबता हुआ सूर्य भी प्रकाशित करता है, यहाँ तक कि खूब तपाता है। इसमें अन्तर नहीं है।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं-भगवन् ! सूर्य जिस क्षेत्र को प्रकाशित करता है. उस क्षेत्र को स्पर्श करके प्रकाशित करता है या बिना स्पर्श किये ही प्रकाशित करता है? भगवान् फर्माते हैं—हे गौतम ! उस क्षेत्र की छहों दिशाओं को स्पर्श करके प्रकाशित करता है। इसी प्रकार छहों दिशाओं को स्पर्श करके ही उद्योतित करता है, तपाता है और प्रभाशित करता है।

गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं—प्रभो! सुर्य क्षेत्र को जब स्पर्श करने लगा, तब 'चलमाणे चालिए' इस सिद्धान्त के अनुसार स्पर्श किया ऐसा कहा जा सकता है ? भगवान् फर्माते हैं हाँ, गौतम ऐसा कहा जा सकता है।

गौतम—भगवान्! सूर्य जब उस क्षेत्र को स्पर्श कर रहा है, तब क्षेत्र को स्पर्श नहीं किया है, तब स्पर्श किया ऐसा कहा जाय?

भगवान्--हाँ गौतम, कहा जा सकता है।

गौतम-- प्रभो! सूर्य स्पर्श किये हुए क्षेत्र का स्पर्श करता है, या स्पर्श न किये हुए क्षेत्रका स्पर्श करता है?

भगवान्—गौतम! स्पर्श किये हुए को स्पर्श करता है

इस प्रश्नोत्तर में ओभासेई, उज्जोएइ, तवेइ, और पभासेई, यह चार क्रियापद आये हैं। इन चारों के अर्थ में क्या भेद है, यह देखना चाहिए।

प्रातःकाल में पहले सूर्य की थोड़ी सी ललाई नजर आती है सूर्य का मंडल उस समय दिखाई नहीं देता है। सूर्य के उस प्रकाश को अवभास कहते हैं और उस समय प्रकाश करना अवभासित करना कहलाता है। सुबह और शाम को जिस प्रकाश में बड़ी बड़ी वस्तुएँ दीखती हैं, छोटी नहीं दीखतीं उस प्रकाश को उद्योत कहते हैं। उस समय बड़ी वस्तुओं का प्रकाशित होना उद्योतित होना कहलाता है। जब सूर्य बहुत प्रकाश करता है देदीप्यमान हो जाता है तब उसके प्रकाश को प्रभास कहते हैं और उस समय वस्तुओं का प्रकाशित होना प्रभासित होना कहलाता है। सूर्य के प्रचंड प्रकाश में जो गर्मी रहती है वह ताप कहलाता है और उस गर्मी का फैलाना सूर्य का तपन करना कहलाता है जहाँ शीत होता है वहाँ सूर्य का प्रखर प्रकाश पड़ने से गर्मी हो जाती है।

वैज्ञानिकों ने भी यह स्वीकार किया है कि कई प्रकार का शीत ऐसा होता है कि सूर्योदय के पहले तक ठहरता है। सूर्योदय होने पर मिट जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सर्दी से प्राण जा रहे हों उस समय अगर सूर्योदय हो जाय तो जाते हुए प्राण रह जाते हैं।

जब शीत मिट जाय और छोटी-बड़ी सभी चीजें दिखाई देने लगें, तब कहा जाता है कि सूर्य तप रहा है। इसी का नाम 'तपति' है। भले ही सूर्य मण्डल न दिख पड़ता हो, परन्तु छोटी-छोटी चीजें अगर दिखाई देती हों, तब यह कहा जाता है कि सूर्य तप रहा है। तात्पर्य यह है कि गर्मी के प्रभाव से जब सूर्य सर्दी को नष्ट कर देता है तथा बारीक से बारीक वस्तुएं भी नजर पड़ने लगती हैं, तब सूर्य का तपना कहलाता है।

यह सूर्य का सामान्य-विशेष धर्म दिखाया गया है। लेकिन सूर्य कहाँ प्रकाश करता है, इस सम्बन्ध में गौतम स्वामी ने क्षेत्र के लिए प्रश्न किया है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया था-सूर्य, क्षेत्र को स्पर्श करके प्रकाश करता है, बिना प्रकाश किये नहीं। इस उत्तर पर यह जिज्ञासा हो सकती है कि सूर्य तो ऊपर है, फिर वह प्रकाशित होने वाले क्षेत्र का स्पर्श किस प्रकार करता है ? इस का समाधान यह है कि सूर्य नीचे नहीं आता, यह सत्य है, परन्तु उसकी किरणें और प्रकाश तो नीचे आता ही है। सूर्य, किरणें और प्रकाश, यह तीनों सर्वथा भिन्न-भिन्न वस्तुएं नहीं हैं। अगर सूर्य प्रकाशमय न होता तो

कौन उसे पहचानता ? सूर्य की किरणें और प्रकाश क्षेत्र का स्पर्श करते हैं, अतएव सूर्य का स्पर्श करना स्वतः सिद्ध हो जाता है। प्रकाश सूर्य का ही अंग है।

उल्लिखित प्रश्नोत्तरों के अंत में जो उत्तर दिया गया है, उसमें 'जावनियमा छद्दिसिं' ऐसा पाठ आया है। इस में 'जाव' शब्द से जिस पाठ का संग्रह किया गया है, वह इस प्रकार है:—

उत्तर—गोयमा ! पुट्ठं ओभासेइ, नो अपुट्ठं।

प्रश्न—तं भंते ! ओगाढं ओभासेइ, अणोगाढं ओभासेइ ?

उत्तर—गोयमा ! ओगाढं ओभासेइ, नो अणोगाढं। एवं अणंतरेगाढं ओभासेइ, नो परंपरोगाढं।

प्रश्न—तं भंते ! किं अणुं ओभासेइ, बायरं ओभासेइ ?

उत्तर—गोयमा ! अणुं पि ओभासेइ, बायरं पि ओभासेइ।

प्रश्न—तं भंते ! उड्ढं ओभासेइ, तिरियं ओभासेइ, अहे ओभासेइ।

उत्तर–गोयमा ! उड्ढं पि ३ ।

प्रश्न–तं भंते ! आइं ओभासइ, मज्झे ओभासइ, अंते ओभासइ ?

उत्तर–गोयमा ! आइं ३ ।

प्रश्न–तं भंते ! सविसए ओभासेइ, अविसए ओभासेइ ?

उत्तर–गोयमा ! सविसए ओभासइ, नो अविसए ।

प्रश्न–तं भंते ! अणुपुविं ओभासइ, अणाणुपुव्विं ओभासेइ ?

उत्तर–गोयमा ! आणुपुव्विं ओभासेइ, नो अणाणुपुव्विं ?

प्रश्न–तं भंते ! कइदिसं ओभासेइ ?

उत्तर–गोयमा ! नियमा छद्दिसं ।

इस पाठ में अवगाहन आदि के विषय में विचार किया गया है । गौतम स्वामी पूछते हैं—प्रभो ! सूर्य स्पर्श करता है तो अवगाहन भी करता है ?

भगवान् ने फर्माया—हाँ गौतम ! अवगाहन भी करता है।

स्पर्श और अवगाहनमें अन्तर है। ऊपरसे संयोग हो जाना मिल जाना स्पर्श होना कहलाता है और दूध में मिश्री की तरह एकमेक हो जाना अवगाहन कहलाता है।

चाहे कोई मनुष्य पृथ्वी के नीचे सात भौंयरों में रहे और वहां सूर्य की किरणे न पहुँच पावे, तब भी सूर्योदय होने पर उस स्थान की रचना बदली हुई ही मालूम होगी। इसके लिए एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है। किसी राजाने कुछ आदमियों को अंधेरे भोयरों में डाल दिया। फिर उन लोगों से पूछा गया—बताओ, अभी दिन है या रात है ? उनमें से एकने कहा—इस समय दिन है। राजाने कहा—तुझे कैसे मालूम हुआ कि इस समय दिन है ? उसने उत्तर दिया—मुझे रतौंध आती है। यद्यपि यहां अँधेरे में कुछ दिखाई नहीं देता किन्तु मेरी आंखों में ज्योति तो आगई है।

गौतम स्वामी कहते हैं—भगवान् ! सूर्य ! अनन्तर अवगाहन करता है या परम्परावगाहन ? अवगाहन में अन्तर न रहना अनन्तर अवगाहन कहलाता है और एक को छोड़कर दूसरे को अवगाहन करना परम्परा अवगाहन करना कहलाता है।

भगवानने उत्तर दिया—गौतम ! अनन्तर अवगाहन करता है।

गौतम स्वामी—भगवान् ! सूर्य बारीक चीज को प्रकाशित करता है या मोटी चीज को ?

भगवान्—गौतम अणु और बादर अर्थात् छोटी-मोटी सभी चीजों को प्रकाशित करता है।

गौतम—भगवान ! सूर्य ऊँचा प्रकाश करता है, नीचा प्रकाश करता है या तिर्छा प्रकाश करता है ?

भगवान्—गौतम ! तीनों दिशाओं में प्रकाश करता है।

ऊँचे, नीचे और तिर्छे में भी आदि, मध्य और अन्त यह तीन भेद हो जाते हैं। अतएव गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवान ! सूर्य आदि में प्रकाश करता है, अन्त में प्रकाश करता है या मध्य में प्रकाश करता है ?

भगवान्—गौतम ! आदि में भी, अन्त में भी और मध्य में भी प्रकाश करता है। सूर्य के फैलने की जितनी मर्यादा है, उसे सूर्य का विषय कहते हैं। गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—प्रभो ! सूर्य अपनी मर्यादा में प्रकाश करता है या मर्यादा से वहार ?

भगवान्—हे गौतम ! मर्यादा में प्रकाश करता है, बाहर नहीं।

गौतम—भगवान् ! सूर्य क्रमसे प्रकाश करता है या अक्रम से ?

भगवान्—गौतम ! सूर्य क्रम से प्रकाश करता है।

गौतम—भगवान् ! सूर्य कितनी दिशाओं में प्रकाश करता है ?

भमवान्—गौतम ! नियम से छहों दिशाओं में प्रकाश करता है ?

इन पदों की व्याख्या टीकाकारों ने प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक में स्पष्ट रूप से की है। वही व्याख्या यहां भी समझ लेना चाहिए।

यहां गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किया था कि सूर्य जिस क्षेत्र स्पर्श कर रहा है उसे 'स्पर्श किया' ऐसा कहा जाता है ? जैसे वस्त्र का एक-एक तार भिन्न-भिन्न समय में टूटता है, फिर भी फटते हुए वस्त्र को 'चलमाणे चलिए' इस सिद्धांत के अनुसार 'फटा' कहते हैं इसी प्रकार सूर्य एक क्षेत्र को कई समयों में स्पर्श करता है, लेकिन पहले समय में उसने जितने क्षेत्रका स्पर्श किया, उतने क्षेत्र की अपेक्षा कहा जायगा कि—सूर्य ने क्षेत्र का स्पर्श किया। इस सम्बन्ध में 'चलमाणे चलिए' इस प्रश्नोतर में विशेष रूपसे विचार किया गया है।

इस प्रश्नोत्तर में वर्त्तमान और भविष्य की बात भूतकाल में दाखिल की गई है। यानी यह माना गया है कि काम समाप्त हुआ नहीं है, लेकिन जैसे ही उसका प्रारम्भ हुआ, वैसे ही वह समाप्त मान लिया जायगा। यों साधारण रूपसे तो यह मालूम होता है कि भविष्य कालीन बात भूतकाल में किस प्रकार कही जा सकती है ? मगर ऐसा किये बिना काम नहीं चल सकता। ज्ञानीजन कहते हैं—हम तो भविष्य को भूत में भी व्यवहार करते हैं, लेकिन आप ऐसा नहीं करेंगे तो क्या कहेंगे ? कल्पना कीजिए—एक आदमी बम्बई जाने के लिए घर से निकला। वह अभी तक बम्बई नहीं पहुँचा—रास्ते में ही है, तब तक किसी दूसरे आदमी ने आकर उसके विषय में पूछा—अमुक आदमी कहां है ? तब उसके सम्बन्ध में क्या उत्तर दिया जायगा ? क्या यही नहीं कहा जायगा कि वह बम्बई गया है ? वह बम्बई पहुँचा नहीं है, फिर भी भविष्य की बात को भूतकाल में दाखिल करके ही यह व्यवहार होता है।

कहा जा सकता है कि यह तो लोक व्यवहार की बात है। सांसारिक जन कैसे भी व्यवहार करें; मगर ज्ञानियों को तो समझ-बूझ कर ही बोलना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि ज्ञानी जन बिना सोचे-समझे नहीं बोलते। जो व्यक्ति बंबई का फासला जितने क़दम कम कर रहा है। वह उतने ही अंशों में बम्बई पहुँचा है। कदाचित् यह कहा जाय कि एक रास्ता कई जगह के लिए जाता है, ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जाय कि वह रास्ता चलने वाला बम्बई गया है? इसका उत्तर यह है कि एक रास्ता चाहे चार जगह के लिये जावे, लेकिन प्रश्न तो यह है कि जाने वाले ने कहां जाना निश्चय किया है और वह कहां जा रहा है? एक रास्ता बम्बई भी जाता हो और पूना भी जाता हो, तब भी बम्बई जाने वाला उसे बम्बई का और पूना जाने वाला पूने का रास्ता कहेगा। अगर जाने वाले ने पहले से ही अपना लक्ष्य निर्धारित न कर लिया होगा तो वह गड़बड़ में पड़ जाएगा और कहीं का कहीं मारा-मारा फिरेगा।

इतने पर भी अगर यह कहा जाय कि जाने वाला अभी जा रहा है—बम्बई पहुँचा नहीं है, अतः भविष्य काल का प्रयोग करना चाहिए; तो वह जितना चला है, वह चलना निरर्थक हो जायगा। अतएव लोक-संगत ऐसा व्यवहार करने में कोई बाधा नहीं है।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! जिस क्षेत्र को सूर्य की किरणें स्पर्श करने लगीं, उस क्षेत्र के सम्बन्ध में 'स्पर्श किया' ऐसा कहा जा सकता है? भगवान् ने फरमाया—गौतम! हां, ऐसा कहा जा सकता है।

अथ गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! सूर्य स्पर्श किये हुए क्षेत्र का स्पर्श करता है या विना स्पर्श क्षेत्र का स्पर्श करता है ?

लोक व्यवहार में विना स्पर्श को भी 'स्पर्श किया' कहते हैं; जैसे पड़ौसी के सम्बन्ध में कहा जाता है-यह हमारे सम्बन्धी हैं--पास ही रहते हैं; आदि। तात्पर्य यह कि हाथ से हाथ मिलाने के समान स्पर्श न करने पर भी स्पर्श किया कहते हैं; लेकिन यहां वास्तव में स्पर्श किये हुए को ही स्पर्श करना कहा गया है।

इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने यह दिया है कि सूर्य स्पृष्ट को ही स्पर्श करता है—अस्पृष्ट को नहीं।

लोकान्त-स्पर्शना

प्रश्न—लोयंते भंते ! अलोयंतं फुसइ, अलोयंते विलोयंतं फुसई ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! लोयंते अलोयंतं फुसइ, अलोयंतेवि लोयंतं फुसइ ?

प्रश्न—तं भंते ! किं पुट्ठं फुसइ, अपुट्ठं फुसइ ।

उत्तर—जाव—नियमा छद्दिसिं फुसइ ।

प्रश्न—दीवंते भंते ! सागरंतं फुसई, सागरंते वि दीवंतं फुसइ ?

उत्तर—हंता, जाव—नियमा छद्दिसिं फुसइ ।

प्रश्न—एवं एएणं अभिलावेणं उदंते पोयंतं फुसइ, छिन्नन्ते दूसंतं, छायंते आयवंतं ?

उत्तर—जाव—नियमा छद्दिसिं फुसइ ।

संस्कृत-छाया-प्रश्न-लोकान्तो भगवन् ! अलोकान्तं स्पृशति ? अलोकान्तोऽपि लोकान्तं स्पृशति ?

उत्तर—हन्त, गौतम ! लोकान्तोऽलोकान्तं स्पृशति, अलोकान्तोऽपि लोकान्तं स्पृशति ।

प्रश्न—तद् भगवन् ! किं स्पृष्टं स्पृशति ? अस्पृष्टं स्पृशति ?

उत्तर—यावत्--नियमात् षड्दिशं स्पृशति ।

प्रश्न—द्वीपान्तो भगवन् ! सागरान्तं स्पृशति ? सागरान्तोऽपि द्वीपान्तं स्पृशति ?

उत्तर—हन्त, यावत्--नियमात् षड्दिशं स्पृशति ।

प्रश्न—एतेनाभिलापेन-उदकान्तः पोतान्तं स्पृशति ? छिद्रान्तो दूष्यान्तं, छायान्त आतपान्तम् ?

उत्तर—नियमात् षड्दिशं स्पृशति ।

शब्दार्थ—

प्रश्न-भगवन् ! लोक का अंत (किनारा) अलोक के अन्त को स्पर्श करता है ? और अलोक का अन्त लोक के अन्त को स्पर्श करता है ?

उत्तर—गौतम ! हाँ, लोक का अन्त अलोक के अन्त को और अलोक का अन्त लोक के अन्त को स्पर्श करता है ।

प्रश्न—भगवन् ! जो स्पर्श किया जा रहा है, वह स्पृष्ट है या अस्पृष्ट है ?

उत्तर—गौतम ! यावत् -नियम पूर्वक छहों दिशाओं में स्पष्ट होता है।

प्रश्न—भगवन् ! द्वीप का अन्त (किनारा) समुद्र के अन्त को स्पर्श करता है ? और समुद्र का अन्त द्वीप के अन्त को स्पर्श करता है ?

उत्तर—हाँ, यावत्--नियम से छहों दिशाओं में स्पर्श करता है।

प्रश्न -- इस प्रकार, इसी अभिलाप से--इन्हीं शब्दों में पानी का किनारा पोत (नौका-जहाज) के किनारे को स्पर्श करता है ? छेद का किनारा वस्त्र के किनारे को स्पर्श करता है ? और छाया का किनारा आतप के किनारे को स्पर्श करता है ?

उत्तर—गौतम ! यावत् -नियमपूर्वक छहों दिशाओं में स्पर्श करता है।

व्याख्यान

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! क्या लोक के अन्त ने अलोक के अन्तको और अलोक के अन्त ने लोक के अन्त को स्पर्श कर रक्खा है ? इस प्रश्न का भगवान् ने यह उत्तर दिया—हे गौतम हां स्पर्श कर रक्खा है। तब प्रश्न किया गया—कितनी

दिशाओं में स्पर्श किया है ? भगवान् ने उत्तर दिया--छहों दिशाओं में स्पर्श किया है।

बहुत से लोग, लोक और अलोक की परिभाषा भी शायद न जानते हों। लोक और अलोक द्वारा बाह्य सृष्टि का ही विचार नहीं किया जाता, किन्तु आत्मिक विचार भी उसमें सन्निहित है। जैसे नारियल का गोला और उसके चारों ओर का आवरण अलग अलग हैं, तथा एक से दूसरा आच्छादित है उसी प्रकार लोक और अलोक भी हैं विस्तृत—असीम अलोक है और उसके बीच में लोक है। लोक और अलोक के परिभाषिक शब्द अन्य शास्त्रों में भी पाये जाते हैं : कोई चौदह तवक (स्तवक) कहता है। लेकिन उनसे अगर यह पूछा जाय कि लोक और अलोक की सीमा किस प्रकार निश्चित की गई है, तो इसका उत्तर जितनी स्पष्टता से जैन शास्त्रों में मिलेगा अन्यत्र, कहीं नहीं मिल सकता। यह बात जैनधर्म के प्रति अनुराग होने के कारण ही मैं नहीं कहता हूं, किन्तु वास्तविक है लोक और अलोक की सीमा कोई बतलावे, फिर भी अगर मैं न मानूं, तो पक्षपात कहा जा सकता है।

जैन शास्त्र का कथन है कि जैसे जल और स्थल की सीमा है, वैसी ही लोक और अलोक की भी है। जहां स्थल भाग माना जाता है और जहां जलभाग न हो वहां स्थल भाग माना जाता है, इसी प्रकार की बात लोक और अलोक के विषय में भी है।

यूरोप के वैज्ञानिक इस बात को मानने लगे हैं कि जीव और जड़ पदार्थ में जो गति होती है, वह आप ही आप नहीं होती।

न जीव आप ही अकेला गति कर सकता है, न जड़ पदार्थ ही। किन्तु किसी भिन्न पदार्थ की सहायता से ही गति होती है, । अब देखना यह है कि गति में सहायता देने वाला वह पदार्थ कौनसा है ?

धर्मास्तिकाय नामक पदार्थ जल के समान है। वह जहां है वहांतक उतना आकाश लोग कहलाता है और जिस आकाश में वह नहीं है, वह अलोक कहलाता है। यह प्रश्न हो सकता है कि धर्मास्तिकाय का हमें किस प्रकार पता चल सकता है ? वह इतना सूक्ष्म है कि दृष्टि गोचर नहीं होता; लेकिन जैसे मछली पानी की सहायता से गति करती है, पानी की सहायता के विना गति नहीं कर सकती, इसी प्रकार जीव और अन्य गति शील जड़ पदार्थ (पुद्गल) धर्मास्तिकाय की सहायता से ही गति करते हैं, इसकी सहायता के अभाव में गति नहीं कर सकते।

अगर लोक और अलोक की सीमा करने वाला कोई पदार्थ न होगा तो लोक के पदार्थ अलोक में—अनन्त आकाश में चले जाते और फिर उनका मिलना असंभव हो जाता। इस लिए लोक और अलोक की सीमा माननी पड़ेगी और साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि लोक में ऐसी कोई शक्ति है, जो लोकके पदार्थों को लोक में ही रखती है। उसी शक्ति को जैन शास्त्र धर्मास्तिकाय कहते हैं। इस धर्मास्तिकाय की शक्ति से ही जीवादि पदार्थ गति करते हैं, लेकिन उनकी गति वहां तक सीमित है, जहां तक धर्मास्तिकाय है। धर्मास्तिकाय के अभाव में गति भी रुक जाती है। इसी कारण जीवादि पदार्थ लोक से बहार-अलोक में नहीं

जाने पाते । तात्पर्य यह है कि जिस आकाश खंड में धर्मास्तिकाय है, वह लोक कहलाता है और जिसमें धर्मास्तिकाय नहीं है उसे अलोक कहते हैं ।

विश्व में, गति करने वाले पदार्थ दो ही हैं--पुद्गल और जीव । यह दोनों पदार्थ लोक में ही है, अलोक में नहीं हैं । लोक में धर्मास्तिकाय की विद्यमानता के कारण ही उनमें गति होती है ।

संस्कृतभाषा में लोक शब्द की व्युत्पत्ति है--लोक्यते, इति लोकः । अर्थात् जो देखा जाय उसे लोक कहते हैं और इसके विरुद्ध, जो न देखा जाय वह अलोक कहलाता है ।

इस व्युत्पत्ति पर ध्यान देने से यह शंका उपस्थित होती है कि लोक का एक नियत परिमाण नहीं हो सकता । जिसे जितना दिखाई दे, उसके लिए उतना ही लोक होना चाहिए, अर्थात् जो आदमी एक कोस देख सकता है, उसके लिए एक कोस का लोक हुआ और जो ज्यादा देखता है, उसके लिए ज्यादा लोक हुआ ? इसका समाधान यह है कि जिसे पूर्ण ज्ञानी देखें वह लोक है । तब यह प्रश्न किया जा सकता है कि पूर्ण ज्ञानी अलोक को देखते हैं या नहीं ? अगर नहीं देखते तो उनके दर्शन-ज्ञान में न्यूनता माननी पड़ेगी और शास्त्रों में पाया जाने वाला अलोक का वर्णन निराधार ठहरेगा । अगर पूर्णज्ञानी अलोक को भी देखते हैं तो अलोक भी लोक हो गया ? तब लोक की ठीक परिभाषा कैसे बनती है ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि पूर्ण ज्ञानियों ने जिस आकाशखंड को धर्मास्तिकाय से युक्त देखा है, वह लोक कहलाता है। जैसे-जिस जगह जल देखा उसे जलभाग कहा और जहाँ जल-भाग न देखा उसे स्थलभाग कहा। अर्थात्--जहाँ जल नहीं देखा तो उसे स्थल नाम दे दिया गया है। इसी प्रकार पूर्ण ज्ञानियोंने अपने ज्ञान में, अलोक में धर्मास्तिकाय नहीं देखा, इसलिए उस स्थल को अलोक नाम दे दिया है। जहाँ धर्मास्तिकाय देखा, उस आकाशखंड को लोक संज्ञा दी है।

धर्मास्तिकाय के अतिरिक्त एक पदार्थ और है, जिसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं। धर्मास्तिकाय गति में सहायक है और अधर्मास्तिकाय स्थिति में सहायक है। आप भूमि पर ठहरे हैं, पर आपके ठहरने में अधर्मास्तिकाय की सहायता है।

आकाश भी एक पदार्थ है। वह आधार रूप क्षेत्र है। वह लोक में भी है और अलोक में भी है। लेकिन जिस आकाश के साथ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाव, जीव आर पुद्गल (रूपी जड़), यह चारों अस्तिकाय होते हैं, उसे लोक आर जिसमें यह चारों नहीं हैं, जहाँ केवल आकाश ही आकाश है, वह अलोक है। तात्पर्य यह कि ज्ञानियों ने आकाश सहित पाँचों अस्तिकाय जहाँ विद्यमान देखे उसे लोक-संज्ञा दी गई और जहाँ केवल आकाश देखा उस भाग को अलोक संज्ञा दी गई। यही लोक आर अलोक की मर्यादा है।

गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि क्या लोक और अलोक की सीमा मिली हुई है? और अलोक की सीमा लोक से मिली

है ? या दोनों में कुछ अन्तर है इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फ़र्माया है—हे गौतम ! दोनों का अन्त एक-दूसरे का स्पर्श करता है। अगर ऐसा न माना जायगा तो दोनों के बीच में जो पोल रह जायगी, उसे लोक और अलोक के अतिरिक्त तीसरी संज्ञा देनी पड़ेगी। मगर ऐसा हो नहीं सकता। क्यों कि या तो उस पोलमें धर्मास्तिकाय का सद्भाव होगा या असद्भाव होगा। अगर सद्भाव माना जाय तो उसे लोक कहना होगा। अगर अभाव माना जाय तो अलोक कहना पड़ेगा। फिर दोनों ही अवस्थाओं में लोक और अलोक की सीमा मिल जायगी।

अगर यह कहा जाय कि लोक और अलोक के बीच की पोल में धर्मास्तिकाय आदि का न सद्भाव है, न असद्भाव है; तो यह कथन परस्पर विरोधी है। सद्भाव न होना ही असद्भाव है और असद्भाव न होना ही सद्भाव है। परस्पर विरोधी दो विकल्पों को छोड़कर तीसरा विकल्प होना असंभव है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! लोक का अन्त, अलोक के अन्त से और अलोक का अन्त लोक के अन्त से, छहों दिशाओं से स्पृष्ट है या किसी एक ही दिशा से ?

भगवान फर्माते हैं—छहों दिशाओं से स्पृष्ट है।

यहां एक प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। वह यह है कि धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गल की गति में सहायक होता है, परन्तु वह स्वयं गति करता है या नहीं ? इसका उत्तर यह है कि

वह स्वयं नहीं चलता। जैसे तालाब में भरा हुआ जल स्थिर है—पवन लगने से हिलोरें उठना दूसरी बात है, अन्यथा वह गति नहीं करता, इसी प्रकार धर्मास्तिकाय, समस्त लोक में भरा है और वह गति नहीं करता।

अब यह भी देखना है कि लोक और अलोक की व्याख्या करने से क्या लाभ है ? वैज्ञानिकों ने 'ईश्वर' नामक गति सहायक पदार्थ का पता लगाया। इसमें उन्हें क्या लाभ ह ? इसका उत्तर वैज्ञानिक ही ठीक-ठीक दे सकते हैं। इसी प्रकार लोक और अलोक को जानकर उसका निरूपण करने में ज्ञानियों ने क्या लाभ देखा है, यह बात ज्ञानी ही भली भांति बता सकते हैं।

लोक, अलोक, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आदि पदार्थों का पता लगाने वाले पूर्ण पुरुष थे। ईश्वर का आविष्कार तो कुछ ही वर्षों पहले हुआ, पर धर्मास्तिकाय का आविष्कार हुए, कौन जानेकितना काल हो गया है ! यह सास्वत पदार्थ है न आविष्कार होता न विनाश युव है।

एक सुन्दर आम सामने आने पर लोग सहज ही यह कल्पना करने लगते हैं कि जिस बागमें यह आम है. वह बाग और आमका वृक्ष कैसा होगा ! आम—फल देखकर उसके वृक्ष को मानना ही पड़ता है उसे न मानने वाला अनाड़ी कहलाता है। इसी प्रकार जिन ज्ञानियों ने धर्मास्तिकाय आदि का पता लगाकर हमें बताया है, उन्होंने किन आत्म—भावनाओं को प्रकट करके पता लगाया होगा ?

उन महात्माओं ने आत्म--भावना जागृत करके, आत्म-ज्योति प्रकटा करके, जिन बातों का पता लगाया है, उन्हें जानकर हमें क्या करना चाहिए ? हमें इस बात का विचार करना चाहिए कि हम किसी बात का पता अपनी बौद्धिक शक्ति से चाहे लगा लें, तब अगर आत्म-शुद्धि न हुई तो कल्याण कैसे होगा ? अतएव सब से पहले हमें आत्म-शुद्धि की आवश्यकता है। चित्त को निर्म बनाना ही सब धर्मों का सार है। हृदय की पवित्रता प्राप्त करन ही धर्म है। चित्तवृत्ति शुद्ध होने पर अनायास ही प्रत्येक वा समझ में आजाती है। आज जिन सुखों की कामना से तुम निर भर व्याकुल रहते हो हृदय शुद्ध होने पर उतारते भी कहीं उन सुखकी तुम्हें प्राप्त होगी। इस अनिर्वचनीय सुख के सामने तुम्हा सम्मुख किसी गिनती में न रहेंगे।

चित्तशुद्धि का अर्थ है, विकारों को जीतना। विकार संक्षेप में दो हैं—राग और द्वेष। किंचित विस्तार से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सरता और अहंकार को विकार कह सकता है। काम; क्रोध आदि विकारों को जीत लेना प्रत्येक आत्मा का कर्त्तव्य है, क्योंकि यही विजय लोकोत्तर आनन्द करने का साधन है। इससे आत्मा विशुद्ध चिद्रूप होकर आन्दमय बनजाता है। अत एव लोकालोक का स्वरूप जानकर आत्मा की शुद्धि के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—भगवन् सागर का अन्त, द्वीप के अन्त से और द्वीप का अन्त सागर के अंत से मिला

हुआ है ! अर्थात् दोनों के अंत एक दूसरे के अंत का स्पर्श करते हैं ? जैसे जम्बूद्वीप का अंत लवण समुद्र से और लवणसमुद्र जम्बूद्वीप के अंत से मिला हुआ है, उसी प्रकार सब द्वीप—समुद्रों की स्पर्शना है ? इसके उत्तर में भगवान् ने फ़र्माया—गौतम ! हाँ, द्वीप का अन्त समुद्र का अन्त द्वीप के अन्त को स्पर्श करता है। और वह छहों दिशाओं से स्पर्श करता है।

यहां यह प्रश्न होता है कि इसका अन्त सागरके अन्तको और सागर का अन्त द्वीप के अन्त को छहों दिशाओं कैसे स्पर्शकरना है ? इसका उत्तर यह है कि द्वीप और समुद्र को हम लोग जिस प्रकार देखते हैं, उससे शास्त्रीय दृष्टि भिन्न प्रकार की है। शास्त्र में जम्बूद्वीप का लगभग एक हजार योजन गहरे से वतलाया गया है और समुद्र का तलभाग भी इतना ही गहरे से है। अतएव द्वीपों और समुद्रों का अन्त एक-दूसरे से नीचे भी स्पर्श करता है, वीच में भी स्पर्श करता है और ऊपर भी स्पर्श करता है।

यों तो मेरुपर्वत से दिशाओं की कल्पना की गई है। परन्तु यहां द्वीप और समुद्र के हिसाव से भी दिशा ली गई है। यानी मेरुपर्वत के हिसाब से सब जगह दिशा नहीं ली जा सकती, इस-लिए वस्तु के हिसाव से भी दिशा का व्यवहार होता है।

यहां पर कहा जा सकता है कि शास्त्रकारों ने तो केवल यही कहा है कि समुद्र और द्वीप का छहों दिशाओं से स्पर्श होता है; दिशा सुमेरु से लेना या वस्तु के हिसाव से, इस सम्बन्ध में कुछभी नहीं कहा है। ऐसी अवस्था में वस्तु की अपेक्षा दिशा का

व्यवहार होता है; यह बात कैसे फलित होती है ! इसका समाधान यह है कि इसी प्रश्नोत्तर से यह बात फलित होता है। गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा है कि नाव का अन्त और जल का अन्त आपस में स्पर्श करते हैं ? भगवान् ने उत्तर दिया हां, स्पर्श करते हैं। फिर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! कितनी दिशाओं में स्पर्श करते हैं ? भगवान ने फर्माया—गौतम छहों दिशाओं में। इस प्रश्नोत्तर में नौका की दिशा से जल है और जल की दिशा से नौका है। यहां वस्तु की अपेक्षा ही दिशा का व्यवहार फलित होती है।

समुद्र में जहाज और नदी में नौका कोई देखता है, कोई नहीं देखता। अर्थात् किसी को देखने का मौका नहीं मिलता। इसलिए गौतम स्वामी अत्यन्त सन्निकट की वस्तुओं को लेकर प्रश्न करते हैं—भगवन् ! कपड़े का अन्त छिद्र को और छिद्र का अन्त कपड़े को स्पर्श करता है—भगवान उत्तर देते हैं—गौतम ! हां स्पर्श करता है। जब गौतम ने पूछा—प्रभो एक दिशा में स्पर्श करता है या छहों दिशाओं में ? तब भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम छहों दिशाओं में।

यहां टीकाकार ने कहा है कि जैसे एक कम्बल की तह कर देने पर वह कम्बल लम्बा-चौड़ा और मोटा हो जाता है। उस कम्बल में कोई कीड़ा ऊपर से नीचे तक छेद कर दे तो उस छेद और कम्बल में छहों दिशाओं से स्पर्श होगा। प्रत्येक बात, जिस अपेक्षा से कही जाती है, उसी अपेक्षा से समझी जाय

तो ठीक तरह समझ में आ सकती है। शास्त्रकार एक जगह तो मेरु की अपेक्षा से दिशा बतलाते हैं और एक जगह वस्तु की अपेक्षा से एक आकाश प्रदेश ऊँचा, एक नीचा और तिर्छा होने पर छहों दिशाएँ स्पर्श करती हैं।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! धूप का अन्त छाया के अन्त से और छाया का अन्त धूप के अन्त से मिला है? अर्थात् स्पर्श करता है?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम! हाँ, स्पर्श करता है। गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! एक दिशा से स्पर्श करता है या छहों दिशाओं से? भगवान् फर्माते हैं—छहों दिशाओं से।

प्रश्न हो सकता है कि धूप में मोटाई नहीं होती, फिर छहों दिशाओं में स्पर्श होना किस दृष्टि से कहा गया है? इसका उत्तर यह है कि—कल्पना कीजिए, एक पक्षी आकाश में उड़ रहा है और उसकी छाया नीचे पड़ रही है। यह छाया अपेक्षाकृत ऊँची, नीची और तिर्छी है। अतएव वह छहों दिशाओं में धूप के अन्त से स्पर्श करती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए टीकाकार ने एक उदाहरण और दिया है। वह कहते हैं—मान लीजिए, एक ऊँचा महल है उसकी छाया ढलती हुई गिर रही है। वह धूप के अन्त से ऊँची दिशा में भी स्पर्श करती है, नीची दिशा में भी स्पर्श करती है और तिर्छी दिशा में भी स्पर्श करती है। मतलब यह है कि आप छाया की मोटाई नहीं देख सकते, मगर शास्त्रकार उसे असंख्यात प्रदेश की कहते हैं। उन असंख्यात प्रदेशों में कई

प्रदेश ऊँचे हैं, कई नीचे हैं और कई तिर्छे हैं। इस प्रकार छाया को धूप और धूप को छाया छहों दिशाओं में स्पर्श करती है।

फिर वही प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर इस प्रकार के प्रश्नोत्तरों से लाभ क्या है? इनसे कौन-से महत्वपूर्ण तत्त्व पर प्रकाश पड़ता है? इस का उत्तर यह है कि शास्त्रकार एक अंश तो स्पष्ट बतलाते हैं और दूसरा अंश हेतु से बतलाते हैं। लोक और अलोक के अन्त का स्पर्श बतलाने के समय यह प्रश्न नहीं हुआ कि गौतमस्वामी यह प्रश्न क्यों पूछते हैं? केवल धूप और छाया के प्रश्न के समय यह प्रश्न क्यों हुआ, इसी लिए कि लोक और अलोक का अन्त दिखाई नहीं देता और धूप तथा छाया दिखाई देती है। मगर लोक और अलोक के अन्त आपसमें किस प्रकार स्पृष्ट हैं, यह बात स्पष्ट रूपसे समझाने के लिए ही द्वीप-समुद्र, जल-जलयान, वस्त्र-छिद्र और धूप-छाया के उदाहरण दिये गये हैं। इन सब उदाहरणों द्वारा यह प्रदर्शित किया गया है कि जैसे द्वीप-समुद्र आदि के अंत आपसमें एक दूसरे का स्पर्श करते हैं, उसी प्रकार लोक और अलोक का अन्त आपस में स्पर्श करता है। इसे देखकर लोक और अलोक के अन्तके स्पर्श का अनुमान करो, यह इन उदाहरणों द्वारा सूचित किया गया है। जिसने द्वीप और समुद्र नहीं देखा है, वह भी वस्त्र एवं छिद्र देखकर यह अनुमान कर सकता है कि जिस प्रकार वस्त्र और छिद्र का अन्त है, इसी प्रकार पृथ्वी का भी कहीं न कहीं अन्त होगा ही। और जहां पृथ्वी का किनारा आयगा वहीं जल होगा। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष वस्तुओं का उदाहरण देकर परोक्ष पदार्थों का

ज्ञान कराया गया है। परोक्ष वस्तु ठीक तरह समझ में आ जाए, यही इन प्रश्नोत्तरों का प्रयोजन है।

शिष्य विविध प्रकार के होते हैं। कोई-कोई तीव्र बुद्धि वाले साधारण संकेत से वस्तु का तत्त्व समझ लेते हैं और कोई मन्द बुद्धि विस्तार पूर्वक समझाने से ही समझते हैं। शास्त्रकार सभी पर अनुग्रहशील होते हैं। इसलिए सभी की समझ में आ जाए, इस विचार से उन्होंने और भी अनेक दृष्टान्त दिये हैं; जैसे धूप और छाया का, वस्त्र और छिद्र का, जहां धूप आएगी वहां छाया का अन्त होगा और जहां छाया आयगी वहां धूप का अन्त होगा।

कदाचित् यह कहा जाय कि लोक और अलोक को समझाने से क्या मतलब है ? जब लोक और अलोक की बात ही निरर्थक है तो उसके लिए दृष्टान्तों की निरर्थकता आप ही सिद्ध हो जाती है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि हम लोग जहां रहते हैं, उस स्थान को संकुचित दृष्टि से क्यों देखें ? जब मारवाड़ का रहने वाला कोई व्यक्ति मारवाड़ से बाहर जाता है। तब वह अपना निवास स्थान मारवाड़ बतलाता है। अगर वह यूरोप में जाता है तो भारत को अपना निवास-स्थान कहता है या अपने आपको एशिया-वासी कहता है। इस प्रकार वह अपने निवास-स्थान को जब इतना व्यापक रूप दे देता है तो भगवान अगर सारे लोक को ही जीवों का निवास-स्थान मान कर उसका विवरण देते हैं तो वह निरर्थक कैसे कहा जा सकता है ? आखिरकार आप लोक में ही तो रहते हैं।

अब अगर आप से कोई पूछे कि लोक तीन है, क्या आप तीनों लोकों में रहते हैं ? तब आप उत्तर देंगे-तिर्छे लोक में। फिर आप से कहा जाय-तिर्छे लोक में तो असंख्यात द्वीप है, क्या आप सभी द्वीपों में रहते हैं ? तब आप उत्तर देंगे-जम्बू-द्वीप में। इस प्रकार संकीर्णता की ओर बढ़ते-बढ़ते आप अन्त में यह कहेंगे कि आत्मा तो ज्ञान, दर्शन; चरित्र आदि रूप अपने स्वभाव में रहता है, अन्यत्र नहीं। अर्थात् यह मानना पड़ेगा कि आत्मा शरीर में भी नहीं रहता है। इस प्रकार विभिन्न नय विवक्षाओं से व्यवहार होता है। यह सब बातें ज्ञानियों की संगति करने से आती है।

क्रियाविचार

प्रश्न—अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाए णं किरिया कज्जइ ?

उत्तर—हंता अत्थि ।

प्रश्न—सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जइ ? अपुट्ठा कज्जइ ?

उत्तर—जाव-निव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्चसिय तिदिसिं, सिय चउदिसिं, सिय पंचदिसिं ।

प्रश्न—सा भंते ! किं कडा कज्जइ, अकडा कज्जइ ।

उत्तर—गोयमा ! कडा कज्जइ, नो अकडा कज्जइ ।

प्रश्न-सा भंते ! किं अत्तकडा कज्जइ ? परकडा कज्जइ ? तदुभयकडा कज्जइ ?

उत्तर-गोयमा ! अत्तकडा कज्जइ, णो परकडा कज्जइ, णो तदुभयकडा कज्जइ ।

प्रश्न-सा भंते ! किं आणुपुव्विं कडा कज्जइ ? अणाणुपुव्विं कडा कज्जइ ?

उत्तर-गोयमा ! आणुपुव्विं कडा कज्जइ णो अणाणुपुव्विं कडा कज्जइ । जायकडा कज्जइ, जाय कज्जिस्सइ, सव्वा सा आणुपुव्विकडा, णो अणाणुपुव्वि त्ति वत्तव्वं सिया ।

प्रश्न-अत्थि णं भंते ! णेरइयाणं पाणाइवायकिरिया कज्जइ ?

उत्तर-हंता, अत्थि ।

प्रश्न-सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जइ ? अपुट्ठा कज्जइ ?

उत्तर—जाव नियमा छद्दिसिं कज्जइ ।

प्रश्न—सा भंते ! किं कडा कज्जइ, अकडा कज्जइ ?

उत्तर—तं चेव जाव--णो अणाणुपुव्विं कड त्ति वत्तव्वं सिया ?

प्रश्न—जहा णेरइया तहा एगिंदियवज्जा भाणियव्वा जाव—वेमाणिया । एगिंदिया जहा जीवा भाणियव्वा ।

जहा पाणाइवाए तहा मुसावाए, तहा अदिण्णादाणे, मेहुणे, परिग्गहे, कोहे जावमिच्छादंसणसल्ले । एवं एए अट्ठारस चउवीसं दंडगा भाणिअव्वा ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं जाव- विहरति ।

संस्कृत-छाया-प्रश्न-अस्ति भगवन् ! जीवैः प्राणातिपात क्रिया क्रियते ?

उत्तर-हन्त, अस्ति ।

प्रश्न-सा भगवन् ! किं स्पृष्टा क्रियते, अस्पृष्टा क्रियते ?

उत्तर-यावत्-निर्व्याघातेन षड्दिशम्, व्याघातं प्रतीत्य स्यात् त्रिदिशम्, स्यात् चतुर्दिशम् पञ्चदिशाम् ।

प्रश्न-सा भगवन् ! किं कृताक्रियते ? अकृता क्रियते ?

उत्तर-गौतम ! कृता क्रियते, नो अकृता क्रियते ।

प्रश्न-सा भगवन् ! किम् आत्मकृता क्रियते, परकृता क्रियते, तदुभयकृता क्रियते ।

उत्तर-गौतम ! आत्मकृता क्रियते, नो परकृता क्रियते, नो तदुभयकृता क्रियते ।

प्रश्न-सा भगवन् ! किम् आनुपूर्वीकृता क्रियते, अनानुपूर्वीकृता क्रियते ?

उत्तर-गौतम ! आनुपूर्वीकृता क्रियते, नो अनानुपूर्वीकृता क्रियते । या च क्रियते, या च करिष्यते, सर्वा सा आनुपूर्वीकृता इति वक्तव्यम् स्यात् !

प्रश्न-अस्ति भगवन् ! नैरयिकैः प्राणातिपातक्रिया क्रियते ?

उत्तर-हन्त, अस्ति ।

प्रश्न—सा भगवन्! किं स्पृष्टा क्रियते, अस्पृष्टा क्रियते?

उत्तर—यावत्-नियमात् षड्दिशं क्रियते।

प्रश्न—सा भगवन्! किं कृता क्रियते, अकृता क्रियते?

उत्तर—तदेव यावत्-नो अनानुपूर्वीकृता इति वक्तव्यम् स्यात्।

यथा नैरयिकास्तथा एकेन्द्रियवर्ज्या भणितव्या यावत्—वैमानिकाः एकेन्द्रिया यथा जीवा तथा भणितव्याः।

यथा प्राणातिपातस्तथा मृषावादः, तथाऽदत्तादानम्, मैथुनम्, परिग्रहः, क्रोधोयावत् मिथ्यादर्शनशल्यम्। एवमेते अष्टादश चतुर्विंशतिर्दण्डका भणितव्याः।

तदेवं भगवन्! तदेवं भगवन्! इति भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं यावत्—विहरति।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन्! क्या जीवों द्वारा प्राणातिपात क्रिया की जाती है?

उत्तर—हाँ, की जाती है।

प्रश्न—की जाने वाली वह क्रिया स्पृष्ट है या अस्पृष्ट है?

उत्तर—गौतम! यावत्—व्याघात न हो तो छहों दिशाओं को और व्याघात हो तो कदाचित तीन दिशाओं

व्याख्यान

लोक और अलोक की सीमा मिली हुई है और लोकमें जीव रहते हैं, यह कहा जा चुका है। अब प्रश्न यह है कि जीव लोक में बंधा क्यों है ? अनन्त शक्ति के स्वामी आत्मा को किसने बंधन में डाल रखा है ? इस प्रश्न का उत्तर विविध प्रकार से दिया जाता है। किसी-किसी का मन्तव्य यह है कि ईश्वरने जीव को संसार में बाँध रक्खा है। जीव की डोरी उसी के हाथमें है। वह छोड़ेगा तो जीव संसार से छूटेगा, नहीं छोड़ेगा तो बँधा रहेगा। राजा-महाराजा के कारागार में बहुत से कैदी बंद रहते हैं। अगर राजा को किसी प्रकार की प्रसन्नता हुई तो वह उन्हें मुक्त कर देता है। अनेक बार तो दया से प्रेरित होकर के भी राजा उन्हें छुटकारा दे देता है। मगर क्या ईश्वर को दया नहीं आती, कि वह जीवों को इस दुःखमय संसार से मुक्त कर दे ? इसके अतिरिक्त यह भी देखना चाहिए कि ईश्वर ने जीवों को संसारमें क्यों बांधा रक्खा है ? अगर यह कहा जाय कि ईश्वर खिलाड़ी है और खेल करने के लिए ही उसने जीवों को संसारमें बांध रक्खा है तो ऐसा खिलाड़ी ईश्वर कैसे कहला सकता है ? क्रूरता और ईश्वरत्व का मेल नहीं मिलता। कई लोग कहते हैं—जैन लोग ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, लेकिन यह बात मिथ्या है। जैनों ने ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है, मगर उसमें ऐसे

धर्म वे स्वीकार नहीं करते, जिनसे ईश्वरके ईश्वरत्व में वट्टा लगता हो अथवा उसकी महिमा मलीन होती हो। सृष्टि का कर्त्ता-हर्त्ता धर्त्ता मानने से ईश्वर में अनेक दोष आते हैं अतएव जैन ईश्वर को कर्त्ता नहीं मानते। गीता में भी एक जगह कहा है—

> न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
> न कर्मफल संयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

अर्थात्—व्यापक-ईश्वर कर्म नहीं कराता है और न कर्मफल का संयोग ही कराता है।

गीता के इस कथन पर विचार करने से क्या यह मालूम नहीं होता कि यही वात जैन भी कहते हैं ? विचार करने पर अवश्य ही यह वात मालूम होगी।

मतलब यह है कि वास्तव में ईश्वर ने जीव को संसार में नहीं वांध रक्खा है। मगर इससे प्रश्न हल नहीं होता। प्रश्न अब भी उपस्थित है कि तो फिर जीव को किसने वांध रक्खा है ? इसी वात को स्पष्ट करने के लिए गौतम स्वामी आगे प्रश्न करते हैं।

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—प्रभो ! क्या संसारी जीव मोह में पड़कर अपने सुख के लिए या और किसी कारण से प्राणातिपात-क्रिया करते हैं ? अर्थात् जीव का घात करने की क्रिया करते हैं ? गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्माते हैं—

हां गौतम ! करते हैं। तब गौतम स्वामी पूछते हैं—प्रभो ! जीव प्राणातिपात-क्रिया आप करते हैं या और कोई कराता है ? अर्थात् ईश्वर, काल, आदि कोई कराता है ?

अनेक नर और नारियां किसी प्रकार का दुःख या शोक होने पर राम को भला-बुरा कहते हैं। उसे कोसते हैं। मगर सचाई यह है कि उस दुःख शोक का कारण वह स्वयं ही हैं। अतएव किसी दूसरे को कोसना वृथा है या दूसरे को कोसना अपने को ही कोसना है। कारण यह है कि प्रत्येक जीव अपने सुख दुःख का कारण आप ही है। काम आप करना और उसका उत्तर-दायित्व किसी अन्य के सिर मँढ देना उचित नहीं है। यही बात समझाने के लिए गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किया है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्माते हैं—हे गौतम ! जीव प्राणातिपात की क्रिया स्वयं करता है, दूसरा कोई नहीं कराता। अगर दूसरा कोई कराता है तो कराना ही उसकी क्रिया है और उसके फल का भागी वह होता है।

जीव प्राणातिपात की क्रिया से ही संसार के बंधन में पड़ा है। बंधन में डालने वाला दूसरा कोई नहीं है।

हे आत्मन् ! तू ही प्राणातिपात क्रिया का कर्त्ता है और प्राणातिपात क्रिया ही बंधन है। इसे अगर रक्षा में (जीव रक्षा में)

पलट दे तो मुक्ति का प्रशस्त पथ तुझे दिखाई देने लगेगा। आघात का प्रत्याघात और गति की प्रत्यागति होती ही है। तुम्हारा हाथ चलेगा तो दूसरे का भी चलेगा ही। जब तुम दूसरे को मारने के लिए हाथ उठाते हो, तो सावधान होकर सोच लो कि तुम अपने को ही मारने के लिए हाथ उठा रहे हो! और तुम दूसरों की रक्षा के लिए हाथ बढ़ाते हो तो अपने लिए शान्ति का सागर भरते हो। तुम स्वयं अपनी रक्षा करते हो।

बहुत से लोगों का यह ख़याल है कि आजकल के ज़माने में इस प्रकार की विचार-धारा आत्मघातक है। इससे दुनिया का काम नहीं चलता। यहां तो थप्पड़ के बदले घूंसा लगाने से ही काम चलता है। मगर गंभीरता से विचार करने पर अवश्य प्रतीत होगा कि उक्त खयाल भ्रमपूर्ण है। लोगों को झूठा विश्वास हो गया है। आज भी क्या ऐसे पुरुषों का सर्वथा अभाव है जिन्होंने विशुद्ध प्रेम द्वारा अपने विरोधियों पर भी विजय प्राप्त की है? नहीं। धर्मस्थानक में, हृदय जैसा कोमल हो जाता है, वैसा ही कोमल अन्यत्र भी बना रहे—वह कोमलता जीवन व्यापिनी बन जाय, स्वभाव में दाखिल हो जाय, तब काम चलता है।

इसलिए बुद्धि लगाकर देखो कि जीव को मारना
या जीव को बचाना?

अगर तलवार का जवाब ... और

थप्पड़ से देने पर शान्ति हो जाती होती तो संसार में अशान्ति का नाम-निशान न रहता। अनादि काल से संसार में शस्त्र-संग्राम चल रहा है, अब तक तो कभी की शान्ति स्थापित हो गई होती। हिंसा के बदले प्रतिहिंसा करने से गुलामी के बंधन में पड़ना पड़ता है। आज अगर किसी से पूछो तो एक ही स्वर में उत्तर मिलेगा कि संसार लड़ाई से घबड़ाया हुआ है। युद्ध और संहार के नये-नये साधन निकाले जा रहे हैं। फिर भी शान्ति नहीं हुई, वरन अशान्ति बढ़ती ही जाती है। बहुत से लोग इस तथ्य का अनुभव कर रहे हैं, मगर चिरकालीन संस्कारों के कारण वे अपना पथ नहीं बदल सकते। अगर हिंसा से ही संसार का काम सुविधापूर्वक चलता होता तो आज आप का अस्तित्व संसार में दिखाई न देता। अगर आप की माताने आपको मारा ही मारा होता तो आप की क्या दशा होती? बाह्य दृष्टि से भी देखिये, तभी प्रतीत होगा कि यह संसार, संसार के आधार पर ही टिका हुआ है। अगर पूर्णरूपेण अहिंसा को अपना लिया जाय तो संसार में लड़ाई-झगड़ा रह ही नहीं सकता।

इस प्रकार तुम अपने आप ही संसार में बंधे हो। दूसरा कोई भी तुम्हें नहीं बांध सकता। आत्मा स्वयं ही कर्त्ता और भोगता है। गीता में भी कहा है—'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्' अर्थात् अपने द्वारा ही अपना उद्धार करना चाहिए—आत्मा ही आत्मा का उद्धार कर सकता है।

हिंसा के समय हृदय में कैसी लहर आती है और अहिंसा के समय क्या लहर उत्पन्न होती है, यह जरा अन्तर्दृष्टि से देखो। अहिंसा की भावना हृदय को आनन्द की तरंगों से भर देती है। वह आनन्द दूसरे के लिए नहीं, वरन् स्वयं अहिंसक के लिए है। अहिंसक ही उसका उपभोग करता है। इसके विरुद्ध, हिंसा से दुःख की लहर आती है और वह हिंसक को ही भोगना पड़ता है।

कहा जा सकता है कि कभी-कभी किसी-किसी को हिंसा करने में ही आनन्द आता है। मगर यह धारणा भ्रममय है। रात में कुत्ते भौंकते हैं और आपकी नींद में विघ्न डालते हैं। आप उन्हें रोकना चाहें तो भी वह नहीं रुकते। उनका भौंकना आपको बुरा लगता है, लेकिन वे भौंकने में ही आनन्द मानते हैं। आपकी दृष्टि में उनका आनन्द मानना, वास्तव में आनन्द है या भ्रम है ?

'भ्रम है।'

इसी प्रकार जो लोग मार-काट में आनन्द मानते हैं, उन्हें भूला-भटका समझो। जो हिसाब कुत्तों के लिए लगाते हो, वही अपने लिए क्यों नहीं लागू करते ? भूल से जिस में आनन्द माना जाता है, वास्तव में वह आनन्द नहीं है।

प्राण, जीवन की एक अनिवार्य वस्तु का नाम है, जिससे प्राणी जीवित रहता है। आत्मा का नाश नहीं है, किन्तु प्राणों

का नाश अवश्य है। प्राणों का नाश करना ही हिंसा या प्राणातिपात क्रिया है। प्राणातिपात क्रिया, जीवहिंसा या आत्मघात कहलाती है, परन्तु यह व्यवहार की बात है। वास्तव में आत्मा का नाश होता ही नहीं है। किसी का धन जाने पर वह मर नहीं जाता, लेकिन कहता है कि मेरा प्राण चला गया। अर्थात् धन उसे प्राणों के समान प्रिय था। वह धनको जीवन का आधार मानता था। जीवन के आधार के जाने से प्राण जाने के समान दुःख होता है। इसलिए धनहरण की क्रिया को शास्त्रकार हिंसा कहते हैं। केवल धन ही नहीं, किन्तु कोई भी वह वस्तु, जो प्राणी को प्रिय है, उसे प्राणी से अलग कर देना—प्राणी का उससे वियोग करा देना इसे हम प्राणहिंसा कहते हैं।

जीव को धन क्यों प्रिय लगता है ? इस लिए कि वह धन को प्राणों का आधार मानता है। पत्थर और सोना—दोनों ही जड़ हैं। मगर पत्थर के जाने पर उतना दुःख न होगा, जितना अपना माने हुए सोने के चले जाने पर होगा। क्योंकि सोने से प्राणी अपना जीवन सुख से बीतना मानता है। उस सोने से उसकी गर्ज पूरी होती है। अगर स्वर्ण से प्राणी की गर्ज पूरी न होती हो तो प्राणी को उस पर ममता ही न होती। इसी प्रकार और वस्तुएँ—जो प्राणी को सुख देने में सहायक होती हैं, जैसे व[illegible] रुपया आदि कोई नष्ट कर दे, तो उससे प्राणी को दुःख होत

है। क्योंकि घर का तोड़ना अर्थात् उसके प्राणों का आधार तोड़ना है। प्राणी कपड़े से जीता ही नहीं है, वरन् कपड़े को वह प्राणों का आधार मानता है। अतएव उसके कपड़े को फाड़ देने से भी उसे दुःख होगा। इसलिए यह भी हिंसा है। मतलब यह है कि प्राणों को या प्राणों के लिए प्रिय किसी वस्तु को नष्ट कर देना हिंसा है। जब प्राणों की आधारभूत मानी हुई वस्तु का नाश कर देना भी हिंसा है तो जिस प्राण के होते वह वस्तु प्रिय लगती है, उस प्राण का नाश करना क्या हिंसा न होगा ? अवश्य ही यह महाहिंसा है। इस प्रकार प्राणों के नाश करने की क्रिया को ही प्राणातिपात क्रिया कहते हैं।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! यह प्राणातिपात क्रिया एक दूसरे का स्पर्श होने पर लगती है या बिना स्पर्श हुए ही ? भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! स्पर्श होने पर ही यह क्रिया लगती है।

यहां यह पूछा जा सकता है कि किसी प्राणी का मकान नष्ट करने में हिंसा लगती है, लेकिन मकान नष्ट करते समय प्राणी का स्पर्श नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह बात कैसे लागू हो सकती है कि स्पर्श होने पर ही प्राणातिपात क्रिया लगती है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्पर्श तीन प्रकार से होता है—

मन से, वचन से और काय से। किसी ने मन के प्रयोग से किसी प्राणी को मार डाला और काय से उसका स्पर्श नहीं किया, तो क्या उसे हिंसा नहीं लगेगी ? मन से उस प्राणी को मार डालने का संकल्प हुआ, इस कारण मानसिक स्पर्श हुआ और उसे क्रिया लगी।

यह तो शास्त्रीय समाधान हुआ। विज्ञान से भी यह बात सिद्ध की जा सकती है। जैन धर्म में एक लेश्या-सिद्धान्त है। योग और कषाय की एकता होने पर कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। शास्त्रकारों ने कषाय आदि समुद्घातों का भी निरूपण किया है। कषाय का भी समुद्घात होता है।

एक अंग्रेजी भाषा की पुस्तक देखने में आई थी, जो आधुनिक विज्ञान के आधार पर लिखी गई है। उसमें कषाय आदि कुछ चित्र भी थे। उसमें बतलाया गया था कि जब किसी व्यक्ति को, किसी पर क्रोध उत्पन्न होता है तब क्रोधी के शरीर से छुरी, कटार, तलवार आदि शस्त्रों के आकार के पुद्गल निकलते हैं। उन पुद्गलों का रंग लाल होता है। कहावत प्रचलित है कि क्रोध में आँखें लाल हो गई। क्रोध आने पर चेहरा लाल हो जाता है, यह कौन नहीं जानता। इस प्रकार विज्ञान वेत्ता यह स्वीकार करते हैं कि क्रोध करने वाले के शरीर से लाल रंग के पुद्गल निकलते हैं। ये शस्त्र के आकार के लाल रंग के पुद्गल, जिस

पर क्रोध किया जाता है, उसे स्पर्श करते हैं। अगर वह दूसरा भी पहले के समान क्रुद्ध हो उठा तो उसके शरीर से भी ऐसे ही पुद्गल निकलते हैं और दोनों के शरीरों से निकले हुए पुद्गलों में युद्ध होने लगता है। इससे विपरीत, अगर दूसरे ने क्रोध नहीं किया-क्षमाभाव रक्खा तो जैसे जल से आग बुझ जाती है, वैसे ही पहले व्यक्ति के शरीर से निकले हुए शस्त्र पुद्गल भी बेकार हो जाते हैं। इसीकारण गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किया है कि जीव दूसरे को स्पर्श करके प्राणातिपात क्रिया करता है या, बिना स्पर्श किये ही? इसका उत्तर भगवान् ने दिया है—स्पर्श करते ही।

एक आदमी यहां से दूर बैठा है। यहां एक आदमी ने उसे मार डालने का विचार किया, जिससे उसे चार क्रियाएँ लग गई। अगर उसने मंत्रादि का प्रयोग किया तो पांच क्रियाएं लगी। यद्यपि वह आदमी दूर—बम्बई में बैठा है और मारने का विचार करने वाला यहां है। उसने उसे स्पर्श नहीं किया। लेकिन शास्त्र कहता है कि स्पर्श होने पर ही क्रिया लगती है, यह बात किस प्रकार संगत हो सकती है? यह बात दूसरी है कि किसी बात को समझाने वाला कोई न हो, परन्तु भगवान् ने अकारण ही यह वर्णन नहीं किया है भगवान् की वाणी पर आस्था रखने से कभी कोई ऐसा पुण्यवान् भी मिलेगा जो उस बात का रहस्य आपको बतला देगा धर्मशास्त्र में कहा है जिन वचनों के सुनने से क्षमा, अहिंसा

आदि की शिक्षा मिलती है, वह ईश्वरीय वचन हैं और जिन्हें सुनने से क्रोध, हिंसा आदि दुर्भावों की जागृति होती है, वे चाहे ईश्वर के नाम पर ही क्यों न कहे गये हों, उन्हें मत सुनो।

क्रोध करने पर मन के पुद्गल कहाँ जाते हैं, यह बात विज्ञानवेत्ताओं ने यंत्रों की सहायता से देखा है, मगर भगवान् के पास यंत्र नहीं थे। उन्होंने अपने ज्ञान से किस प्रकार देखा होगा? इस बात का विचार करके भगवान् के वचन पर विश्वास रखना चाहिए। दूरवर्त्ती मनुष्य का मानसिक पुद्गलों के साथ किस प्रकार स्पर्श होता है, यह पहले बतलाया जा चुका है।

जीव चाहे कहीं भी रहे, उसका स्पर्श चाहे हो या न हो, तब भी उसके प्रति बुरी भावना होने से हिंसा का पाप लगता है, ऐसी सद्भावना अन्तः करण में उत्पन्न होने पर आत्मा का एकान्त हित ही होता है, अहित नहीं होता।

बहुतेरे मनुष्य ऊपर की क्रिया करने में लगे रहते हैं, परन्तु अपने मन की ओर नहीं देखते। मन में क्या-क्या भरा है, इस ओर उनका ध्यान नहीं जाता। लेकिन जब तक मन स्वच्छ नहीं है, तब तक केवल ऊपरी दिखावटी क्रिया सार्थक नहीं होती। कहा भी है—

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भाव शून्याः।

अर्थात—भावहीन क्रियाएँ सफल नहीं होती है। कहा है–

एक बगुला बैठो तीर ध्यान धर नीर में,
एक लोग कहे याको चित्त वस्यो रघुवीर में।
याको चित्त माछला माँय जीव की घात है,
हा वाजिन्द दगाबाज को नाहिं मिले रघुनाथ है।

ऐसी क्रिया से काम नहीं होता। किसी ने, जलाशय के किनारे पर ध्यान लगाये बैठे बगुले को देखा। उसे देख कर उसने कहा–ओहो! यहाँ के तो पक्षी भी योगियों की तरह ध्यान लगाते हैं! बगुला ध्यान लगाये बैठा था, मगर मन के भाव कहाँ छुप सकते थे? जब तक मछली नजर न आती तब तक वह ध्यान में बैठा रहता और जैसे ही मछली नजर आई कि उस पर झपटता और उसे मार खाता। इसी प्रकार बहुत से लोग मुँहपत्ती बाँध कर या तिलक लगाकर, बकध्यानी बनकर लोगों को ठगते हैं। लोग उसे बकध्यानी समझते हुए भी लोभ–लालच आदि से प्रेरित होकर उपेक्षा करते हैं। मगर शास्त्र तो ऐसे लोगों को मिथ्याचारी ही कहता है।

शास्त्र कहता है—दुर्भाव से प्रेरित होकर अगर मन से भी किसी जीव का स्पर्श करोगे तो पाप होगा। हाँ, अपने ध्यान में

मग्न रहे, पाप की ओर मन न जाने दे, तो पाप से बचाव हो सकता है।

तदनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! प्राणातिपात क्रिया एक दिशासे स्पर्श होने पर लगती है या छहों दिशाओं से स्पर्श होने पर?

यहाँ एक आशंका और खड़ी की जा सकती है कि एकेन्द्रिय पृथ्वी काय आदि—जीवों के मन भी नहीं होता—वे मन से भी किसी दूसरे जीव का स्पर्श नहीं करते, फिर उन्हें हिंसा कैसे लगती है? इसका समाधान यह है कि एकेन्द्रिय जीवों के केवल द्रव्यमन—संकल्प विकल्प करने का नहीं है, किन्तु मन की एक अस्पष्ट मात्रा उनमें भी पाई जाती है। अंधे पुरुष के आँख न होने पर भी जैसे वह पंचेन्द्रिय कहलाता है, उसी प्रकार उस अस्पष्ट मन के कारण उन्हें भी एक अपेक्षा से मन वाला कहा जा सकता है, एकेन्द्रिय जीव में भी प्रशस्त या अप्रशस्त अध्यवसाय होता है। अध्यवसाय के कारण ही उन्हें प्रणातिपात क्रिया लगती [illegible] अध्यवसाय क्या है और उनमें किस प्रकार होता है, यह [illegible] जान सकते। इस के लिए अर्हन्तों के वचन पर ही विश्वास करने से काम चल सकता है।

[illegible] की कितनी दिशाओं से स्पर्श हुई क्रिया लगती है, इस

विषय में छह दिशा और तीन दिशा का अन्तर है। लोक कहीं से कम चौड़ा ह कहीं ज्यादा चौड़ा है। त्रस नाड़ी में रहने वाले जीवों को छहों दिशाओं की क्रिया लगती है, लेकिन त्रसनाड़ी के बाहर स्थावरनाड़ी के कोने में रहे हुए जीव को जघन्य तीन दिशाओं में स्पृष्ट क्रिया लगती है और उत्कृष्ट छह दिशाओं में स्पृष्ट।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! प्राणातिपात क्रिया करने से लगती है या बिना किये ही लगती है? भगवान् ने फर्माया--गौतम! करने पर ही लगती है, बिना किये नहीं लगती।

इस पर आप कह सकते हैं कि--तब तो अपने हाथ से कोई सावध क्रिया न करें, तो बस पाप से बच जाएँगे। अपने हाथ से रोटी बनाने में क्रिया लगती है; दूसरे से बनवा लेने में क्या पाप है?

कई लोगों की यह मिथ्या कल्पना है कि दूसरे की बनाई हुई सिधी रोटी खा ली, स्वयं हाथ से नहीं बनाई तो क्रिया नहीं लगती। क्योंकि शास्त्र में कहा है कि करने वाले को ही क्रिया लगती है। ऐसा समझने वालों को यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि जो वस्तु तुमने खाई या काम में ली और जो तुम्हारे उद्देश्य से बनाई गई है वह भले ही तुमने न बनाई हो, दूसरे ने ही बनाई हो, लेकिन वह बनाई तुमने ही है। जो रोटी तुमने

मग्न रहे, पाप की ओर मन न जाने दे, तो पाप से बचाव हो सकता है।

तदनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! प्राणातिपात क्रिया एक दिशासे स्पर्श होने पर लगती है या छहों दिशाओं से स्पर्श होने पर ?

यहाँ एक आशंका और खड़ी की जा सकती है कि एकेन्द्रिय-पृथ्वी काय आदि—जीवों के मन भी नहीं होता—वे मन से भी किसी दूसरे जीव का स्पर्श नहीं करते, फिर उन्हें हिंसा कैसे लगती है ? इसका समाधान यह है कि एकेन्द्रिय जीवों के केवल द्रव्यमन—संकल्प विकल्प करने का नहीं है, किन्तु मन की एक अस्पष्ट मात्रा उनमें भी पाई जाती है। अंधे पुरुष के आँख न होने पर भी जैसे वह पंचेन्द्रिय कहलाता है, उसी प्रकार उस अस्पष्ट मन के कारण उन्हें भी एक अपेक्षा से मन वाला कहा जा सकता है, एकेन्द्रिय जीव में भी प्रशस्त या अप्रशस्त अध्यवसाय होता है। अध्यवसाय के कारण ही उन्हें प्रणातिपात क्रिया लगती है। अध्यवसाय क्या है और उनमें किस प्रकार होता है, यह नहीं जान सकते। इस के लिए अर्हन्तों के वचन पर ही विश्वास करने से काम चल सकता है।

जीव को कितनी दिशाओं से स्पर्श हुई क्रिया लगती है, इस

विषय में छह दिशा और तीन दिशा का अन्तर है। लोक कहीं से कम चौड़ा है कहीं ज्यादा चौड़ा है। त्रस नाड़ी में रहने वाले जीवों को छहों दिशाओं की क्रिया लगती है, लेकिन त्रसनाड़ी के बाहर स्थावरनाड़ी के कोने में रहे हुए जीव को जघन्य तीन दिशाओं में स्पृष्ट क्रिया लगती है और उत्कृष्ट छह दिशाओं में स्पृष्ट।

गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! प्राणातिपात क्रिया करने से लगती है या विना किये ही लगती है? भगवान् ने फर्माया–गौतम! करने पर ही लगती है, विना किये नहीं लगती।

इस पर आप कह सकते हैं कि–तब तो अपने हाथ से कोई सावध क्रिया न करें, तो बस पाप से बच जाएँगे। अपने हाथ से रोटी बनाने में क्रिया लगती है; दूसरे से बनवा लेने में क्या पाप है?

कई लोगों की यह मिथ्या कल्पना है कि दूसरे की बनाई हुई सिधी रोटी खा ली, स्वयं हाथ से नहीं बनाई तो क्रिया नहीं लगती। क्योंकि शास्त्र में कहा है कि करने वाले को ही क्रिया लगती है। ऐसा समझने वालों को यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि जो वस्तु तुमने खाई या काम में ली और जो तुम्हारे उद्देश्य से बनाई गई है वह भले ही तुमने न बनाई हो, दूसरे ने ही बनाई हो, लेकिन वह बनाई तुमने ही है। जो रोटी तुमने

खाई, या जो चीज काम में ली, उसके लिए तुम यह भले ही कहो कि यह चीज दूसरे ने बनाई है, मगर उस चीज की क्रिया तुम्हें भी लगेगी, क्योंकि उसमें तुम्हारा निमित्त है। उसे खाने या काम में लाने में परोक्ष रूप में तुमने प्रेरणा की है। अगर तुम बनाने वाले से कह देते कि मेरे लिए मत बनाना, मैं किसी दूसरे प्रकार से निर्वाह कर लूंगा, तब तो बात दूसरी है। लेकिन ऐसा न करने पर जो तुम्हारे ही लिए बना है, उसे काम में लेना या खाना और फिर यह कहना कि हमने यह क्रिया नहीं की, यह क्रिया से बचने का असफल बहाना है, केवल अपना मन-बहलाना है। अलबत्ता, जिस क्रिया के करने में मन भी नहीं लगाया, वचन भी नहीं लगाया और काया भी नहीं लगाई, वह क्रिया अवश्य न लगेगी।

अब आप कहेंगे कि, 'करना, कराना और अनुमोदन करना, यह तीन भंग हैं। अगर क्रिया स्वयं न की तो एक भंग से तो बच गये! अगर हमने एक करण एक योग से त्याग किया है तो वह त्याग भंग नहीं हुआ!

इस प्रकार का विचार करके कई लोग घर की बनी रोटी न खाकर हलवाई की दुकान की खाना अच्छा समझते हैं। उनकी समझ यह है कि घर पर खाने से क्रिया लगती है और हलवाई की दुकान में दूसरा बनाता है, इस लिए क्रिया नहीं लगती।

मगर यदि इस प्रकार ऊपरी दृष्टि से ही देखा जाय तो घर में भी आप रोटी नहीं बनाते, स्त्री बनाती है। पर चाहे हलवाई की दुकान से खरीद कर खाओ, चाहे घरकी स्त्री की बनाई खाओ, क्रिया अवश्य लगेगी। मन के परिणाम जैसे होंगे, जैसी क्रिया लगे विना नहीं रह सकती।

आप यह इच्छा नहीं करते कि हमारे लिए रेल चले। वह तो यों भी चलती है। आप उसमें बैठें या न बैठें, रेल चलेगी ही। आप केवल टिकिट लेकर उसमें बैठ जाते हैं, फिर भी क्रिया लगती है या नहीं लगती ? इसके सिवा रेलतो रोजही आती-जाती है, आप ने अपने लिये नहीं चलवाई है; और बैल गाड़ी आप अपने ही लिए जुतवाकर कहीं जाते हैं; तो इन दोनों में से अधिक क्रिया किसमें लगती है ?

'रेल में'

ऊपर से तो रेल की क्रिया शायद थोड़ी मालूम हो। और कोई यह भी समझले कि बहुत से आदमी रेल में बैठते हैं, इस लिए थोड़ी-थोड़ी क्रिया सब के हिस्से में आजायगी, लेकिन शास्त्र यह नहीं कहता। शास्त्र कहता है कि रेल बैठने वालों के लिए बनी है, अतएव सब बैठने वालों को रेल की क्रिया लगती है। इसी प्रकार हलवाई की दुकान पर मीठाई खरीददारों के लिए ही बनी है। उसे पैसे देकर जो लेता है, उसे मिठाई बनाने की क्रिया

लोगे। परंतु चूल्हेमें और हलवाई की भट्टी में यों भी बहुत अंतर है। श्रावक के घर लकड़ी, जल आदि सामग्री का विवेक रक्खा जाता, मगर हलवाई के यहां यह विवेक कहां ?

कभी कभी अपने हाथ से काम करने में जितना पाप होता है, उसकी अपेक्षा दूसरे से काम कराने में अधिक पाप होता है। एक बार मेरे सांसारिक मामाजीने दावत दी। उस समय मैं आठ दस वर्ष का था। मामाजीने मुझसे भंग की पत्ती लाने को कहा। उस समय भंग का ठेका नहीं था। बाड़े में ही बहुत-सी भंग लगी थी। मैं बच्चा था। नहीं जानता था कि कितनी भंग की पत्ती से काम चल जायगा। बच्चों को तोड़ने-फोड़ने का काम स्वभावतः रुचिकर होता है। मैं कुर्ते का झोला भर कर भंग की पत्ती तोड़ लाया। मामाजी को थोड़ी-सी पत्ती ही चाहिए थी। उन्होंने कहा-इतनी ढेर पत्ती तोड़ लाया ! मैं ' सकपका ' कर रह गया और मैंने कहा-मुझे क्या पता था।

मामाजी एक सामान्य धार्मिक मनुष्य थे। ऐसे मामलों में बहुत [illegible] थे और उसमें लूट-छिड़ कर ही भंग काम में लेते थे। [illegible] आवश्यकता थी, बाकी ढेर छिपाकर फेंक दी। अब आप विचार कीजिए कि मैंने ढेर पत्ती तोड़ी, वह सब पाप मामाजी को [illegible] तोड़ कर लाने में आवश्यकतानुसार [illegible] के पाप से बच सकते थे।

सारांश यह है कि अपनी काया से कार्य न करने कारण के उस समय तक हिंसा से नहीं बचा जा सकता, जबतक उसके करने में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे प्रेरणा-अनुमोदना है। विवेक रखने पर ही क्रियासे बचाव हो सकता है। बहुत--सी श्राविकाएँ सामायिक तो करती है, मगर उनसे पूछा जाय कि जल छानने की विधि क्या है, तो कह देंगी—नौकरनी जानें! वे समझती हैं कि रोटी न बनाने से और परिंडे को हाथ न लगाने से हम क्रिया से बचगई।

आपको प्रवृत्ति बुरी ही बुरी लगती है, परन्तु सत्प्रवृति के बिना निवृत नहीं हो सकती। प्रवृति में विवेक रखने के लिए ही यह उपदेश दिया जारहा है। यहां सत्य का उपदेश दिया तो क्या दुकान पर उसका पालन नहीं करेंगे? अगर वहां स्वयं असत्य भाषण न करके, दूसरे पर असत्य भाषण का भार डाल देंगे तो यह आत्मवंचना होगी। अतएव क्रिया से बचने के लिए विवेक से काम लेना चाहिए।

क्रिया करने से लगती है या बिना किये लगती है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है कि करने से क्रिया लगती है बिना किये नहीं लगती।

इस उत्तर पर यह तर्क किया जा सकता है कि शास्त्र में एक

जगह तो लिखा है कि जीवन को चौदह राजू लोक की क्रिया लगती है और यहां कहा गया कि करने से लगती है, बिना किये नहीं। इस परस्पर विरोधी कथन में से किसे वास्तविक माना जाय? जिन जीवों का हमें ध्यान भी नहीं है, जिनका स्मरण भी नहीं है उनके सम्बन्ध में हमें क्यों क्रिया लगती है? इसके उत्तरमें ज्ञानी कहते हैं कि बहुत-सी बातें तुम्हें नहीं दिखती। तुम उन्हें नहीं जानते। तुम्हारी शक्ति क्या है यह बोध होने परही तुम ऐसा तर्क कर सकते हो। अगर तुम्हें लोक के सबजीवों की क्रिया न लगती होती तो जबर्दस्ती लगाने की क्या आवश्यकता थी? ऐसा करने से किसी को क्या लाभ था? जिन महापुरुषों ने पूर्णता की स्थिति प्राप्त कर ली है, उन्हें उपदेश की आवश्यकता ही नहीं। उपदेश उनके लिए है भी नहीं। अपूर्ण स्थिति वालों के लिए ही उपदेश दिया जाता है। ऐसे लोगों को धर्म के संबंध में अगर कोई तर्क उपजे तो उसका समाधान करना उचित है। जहाँ तक धर्म का संबंध है, तर्क को प्रधानता नहीं देना चाहिए। मगर उत्पन्न हुए तर्क का समाधान न करना भी अनुचित है और बाल की खाल निकालने की चेष्टा करना भी अनुचित है। एकान्त तर्क ही तर्क पर तुल जाने में नास्तिकता आती है। हाँ, तर्क शक्ति को भी धर्म में स्थान मिल सकता है, मगर नास्तिकता जनक तर्क हानिकारक ही है। [illegible] है कि यह कहाँ ठहरती

नहीं और सभी कुछ इन्द्रियों और बुद्धि द्वारा समझना चाहता है। मगर मनुष्य का सामर्थ्य इतना कम है कि बहुत-से सूक्ष्म तत्त्व-जो अनुभवगम्य ही होते हैं, उसकी पकड़ में नहीं आते। इस कारण अश्रद्धा, संयश और मोह उत्पन्न होता है और चित्त की यह मूढ़ताएं आत्म विनाश का कारण होती हैं।

ज्ञानियों ने क्रिया लगने के पाँच कारण बतलाये हैं। चाहे यह कारण ज्ञान में हों या नहीं, परन्तु इन पाँच शक्तियों से कर्म-बंध की क्रिया बराबर जारी रहती है। वह पाँच कारण यह हैं:—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग। इन पाँच द्वारों से जीव-रूपी तालाब में कर्म रूपी पानी आता है। यद्यपि कर्मों के आगमन के यह पाँच द्वार हैं, तथापि कर्म आते हैं करने से ही, बिना किये नहीं आते। अगर बिना किये कर्म आने लगे तो जड़ पत्थर आदि और सिद्धों को भी कर्मबंध होने लगे।

'विना कीधा लागे नहीं। किधां कर्मज होय। कर्मकमाया आपणा, तेथी सुख दुःख होय। इम समकित मन स्थिर करो।'

अब सन्देह यह होता है कि मिथ्यात्व की क्रिया में चौदह राजू लोक की क्रिया लगती है, सो कैसे? इस संबंध में उचित यही है कि तत्त्वज्ञान प्राप्त करके मिथ्यात्व की क्रिया नष्ट करो। अगर मिथ्यात्व क्रिया नाश न करोगे तो मिथ्यात्व की क्रिया

सकेगा ही। धर्म के शास्त्रों ने मिथ्यात्व का तिरस्कार करके यही कहा है कि करोड़ों वर्ष तपने पर भी आत्मज्ञान के बिना मोक्ष न होगा। क्यों कि जब तक आत्मज्ञान न होगा, कर्म बँधते रहेंगे और जब तक कर्म बँधते रहेंगे, मोक्ष नहीं होगा।

उदाहरणार्थ, कल्पना कीजिए, एक आदमी अपराध को अपराध समझ कर कारणवश करता है। दूसरा आदमी पागल है। वह अपराध को अपराध नहीं मानता। वह भी वही अपराध करता है। इन दोनों के अपराध का परिणाम क्या होगा? अपराध को अपराध समझकर करने वाले को कानून के अनुसार नियत सजा मिलेगी, मगर पागल को तो पागल खाने में ही बंद कर दिया जायगा। पहला व्यक्ति नियमित अवधी पर छुटकारा पा जायगा, मगर पागल के लिए कोई अवधि निश्चित नहीं है। उसकी सजा का अन्त तभी होगा, जब उसका पागलपन दूर हो जायगा। इसी प्रकार मिथ्यात्व का पाप बहुत बड़ा है। इस पाप का अन्त नहीं है।

मिथ्याज्ञान नष्ट हो गया; सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया, अत [illegible], फिर हम क्यों नहीं स्वीकार करेंगे? [illegible] लोगों ही।

[illegible] का त्याग नहीं [illegible]

आपको दे तो आप इंकार करेंगे ? आप यही सोचेंगे कि इन्हें लेने में क्या हर्ज है ? मैंने इन्हें लेने का त्याग नहीं किया है। आप उन्हें लेलेंगे। अगर त्यागा हुआ है तो आप उन्हें कदापि न लेंगे। यह न लेना व्रत का ही प्रताप है। और त्याग न होने पर ले लेना ही कर्म आने का मार्ग है। यही अव्रत की क्रिया कहलाती है। चाहे आपको विचार हो या न हो, परन्तु जिसका त्याग न होगा उसके लेने में आप उद्यत हो जाएँगे। अतएव अव्रत की क्रिया से बचने के लिए त्याग करना नितान्त आवश्यक है।

तीसरी क्रिया प्रमाद सम्बन्धी है एक घटना सुनी थी किसी समय उदयपुर-जेल में एक बुढ़िया अपराधिनी आई थी। बुढ़िया बैठी थी और पहरेदार को नींद आगई। वह तलवार खूंटी पर टांग कर सोगया। सिपाही को यह ख्याल नहीं था कि बुढ़िया मेरी तलवार लेकर अपने आपको मार लेगी, न उसकी यह भावना ही थी कि वह मार ले! मगर उस बुढ़िया को न जाने क्या सूझी कि उसने पहरेदार की तलवार उठाई और आत्म हत्या करने लगी। बुढ़िया को तलवार चलाने का ज्ञान नहीं था; अतएव उसने तलवार की नोंक गले में घुसेड़ ली। इस कारण वह मरी तो नहीं हाय-हाय करने लगी। उसकी आवाज सुनकर पहरेदार जाग उठा। उसने बुढ़ियासे तलवार छीन ली। मुकद्दमा अदालत में गया और अदालत से उस सिपाही को भी सजा मिली।

सिपाही की भावना यह नहीं थी कि बुढ़िया मेरी तलवार से आत्महत्या करने का यत्न करेगी, फिर भी सिपाही को सजा मिलने का क्या कारण है ? वास्तव में सिपाही को उसकी गफलत के लिए सजा मिली। सावधानी न रखने से—गफलत करने से सजा मिलने के सैकड़ों उदाहरण मिल सकते हैं। यही बात शास्त्रीय भाषा में प्रमाद के विषय में कही जा सकती है। संसार में प्रमाद के लिए मिलने वाली सजा के लिए तर्क-वितर्क नहीं किया जाता मगर शास्त्रों में कल्याण के लिए जो बात कही गई है, उसमें तर्क किया जाता है ?

आत्मा में एक प्रबल विकार है, जिसे कषाय कहते हैं। जैसे विकारकारक वस्तु का सेवन करने पर वह अपना असर दिखलाती ही है, इसी प्रकार कषाय करोगे तो उसके परिणामस्वरूप कर्म भी आयेंगे ही। आत्म ज्ञान होने पर कषाय भी शनैः—शनैः नष्ट हो जाते हैं।

पांचवां कारण योग है : जिसमें कषाय शेष नहीं रहा है-जो वीतराग हो गया है, उसमें भी यदि योग की चपलता है तो योग की क्रिया लगेगी। जबतक मन, वचन, काय का परिस्पंदन होता है-[illegible] रहता है, तबतक किसी न किसी तरह दूसरे को पीड़ा पहुंचती ही है और जबतक अपने द्वारा दूसरों को पीड़ा पहुंचती है, तबतक मोक्ष कैसे हो सकता है ? योग न हो तो कर्म

का ईर्यापथिक–आस्रव भी नहीं होगा, मगर यह संभव नहीं है कि योग हों और कर्म–बंध न हों। हां, कषाय के अभावमें सिर्फ योग के निमित्त से स्थितिबंध और अनुभाग बंध नहीं होता, प्रकृत्ति और प्रदेश बंध ही होता है। इस प्रकार कषाय के क्षय हो जाने पर और आत्मा का अनन्त वीर्य प्रकट हो जाने पर भी योग के कारण क्रिया लगती है। तब कषाय युक्त योगों की प्रवृत्ति तो कर्म बन्धन का कारण है ही।

मतलब यह है कि चाहे किसी को मालूम हो या न हो, आत्मा जब क्रिया करता है तब क्रिया लगती है। बिना किये क्रिया नहीं लगती। हां, अगर आत्मा गफलत से क्रिया करेगा तो गफलत से करने का पाप लगेगा और जानकर करेगा तो जानकर करने का पाप लगेगा। अतएव अगर क्रिया से बचना है तो सावधानी रखनी चाहिए।

गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! अगर क्रिया करने से ही लगती है तो अपने करने से लगती है, दूसरे के करने से लगती है या अपने और दूसरे–दोनों के करने से लगती है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया–हे गौतम! अपने करने से लगती है; दूसरे के करने से नहीं लगती।

कोई यह तर्क कर सकता है कि अगर एक पाप दो व्यक्तियों ने मिलकर किया तो व्यापार के नफे के माफिक पापमें भी हिस्सा

क्यों नहीं हो जाता ? बहुत से लोग इसी प्रकार के विचारों से सीधा लेकर खाते और सीधा लेकर पहनने की गड़बड़ में पड़े हैं लेकिन जबतक आदमी अपने आपके सहारे न होगा, तबतक गड़बड़ नहीं मिटेगी। पाप के हिस्से होने का कानून संसार-व्यवहार में भी नहीं है। राजकीय नियम यह है कि यदि एक अपराध चार आदमी मिलकर करें तो उन चारों को ही अपराध का पूरा पूरा दंड दिया जाता है। दंड में हिस्सा बांट को स्थान नहीं है।

कर्त्ता, कर्म और क्रिया, तीन अलग-अलग वस्तु हैं। इन तीनों के समुचित सहकार से कार्य होता है। जिसके करने से क्रिया हो वह कर्त्ता कहलाता है। अगर कर्त्ता न हो तो क्रिया नहीं हो सकती। कर्त्ता चाहे अधिक हों, परन्तु क्रिया के पाप में भाग नहीं होगा। प्रत्येक कर्त्ता को उसके आशय के अनुसार पाप लगेगा। पाप का बँटवारा नहीं होगा। अगर पचीस आदमियों ने मिलकर कोई अपराध किया है तो इन सब की जांच अलग-अलग होगी कि किसने किस नियत से अपराध किया है ? फिर जिसने जिस नीयत से अपराध किया होगा, उसे उसी के अनुसार दण्ड दिया जायगा। इसी प्रकार शास्त्र का कथन है कि पाप का भाग नहीं होगा, किन्तु अपने-अपने अध्यवसायों के अनुसार सब को फल भोगना पड़ेगा। पचीस आदमी मिलकर अगर एक मनुष्य की हत्या करते हैं तो पच्चीसों को क्रियाएँ लगेंगी।

हां, अगर इन पच्चीस आदमियों में पांच आदमी जबर्दस्ती शामिल कर लिये गये हैं उन्होंने मारने में भाग नहीं लिया है, तो उन्हें क्रिया नहीं लगेगी। दुनिया का कानून अपूर्ण है और ज्ञानियों का कानून पूर्ण है। जब अपूर्ण कानून भी दंड के हिस्से नहीं करता तो पूर्ण कानून क्यों हिस्से करेगा! सारांश यह है कि जो जीव जिस भाव से, जैसी क्रिया करेगा उसे उसी प्रकार का फल भोगना पड़ेगा। आत्मा अपने ही किये का फल भोगता है। दूसरे के पापों का फल नहीं भोगता।

जब अपनी वृत्तियां आप में नहीं रहती—आत्मा अपने स्वभाव में स्थिर नहीं रहता, तब आत्मा पाप क्रिया करता है। अगर बाहर जाने वाली वृत्तियों को आत्मा की ही ओर मोड़ लिया जाय तो पाप होने का कोई कारण नहीं है।

इसके पश्चात गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! आत्मा प्राणातिपात क्रिया अनुपूर्वी से करता है या अनानुपूर्वी से!

हाथ में पांच उँगलियां हैं। उन्हें एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी इस प्रकार क्रम से गणना करना अनुपूर्वी है। इसे पूर्वानुपूर्वी भी कहते हैं। इस क्रम को उलट देना अर्थात पांचवी, चौथी, तीसरी इस प्रकार गिनना पश्चानुपूर्वी है। और किसी प्रकार का क्रम नहीं होना अनानुपूर्वी है।

गौतम स्वामी के प्रश्न का भगवान् ने उत्तर दिया आत्मा अनुपूर्वी से प्राणातिपात क्रिया करता है, क्रम को छोड़कर नहीं करता।

ज्ञानी पुरुषों ने इस क्रम का हिसाब किस प्रकार लगाया है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु आत्मा क्रम से क्रिया करता है, संभवतः यह अर्थ निकलता है। अर्थात आत्मा मन से भी क्रिया करता है, वचन से भी क्रिया करता है और काय से भी क्रिया करता है। इस प्रकार किसी से भी क्रिया की जावे मगर अध्यवसाय के बिना क्रिया नहीं होती। अध्यवसाय के साथ चाहे मन हो, वचन हो या काय हो; लेकिन अध्यवसाय के चलने पर ही मन, वचन और काय चलते हैं। अध्यवसाय के साथ जब कोई क्रिया की ओर चलता है तो पहले पास के कर्मदलिकों को ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ—चिकने घड़े पर पहले पास की रज लगेगी, फिर दूर की लगेगी। इसी प्रकार राग-द्वेष की चिकनाई से जीव जिन कर्मदलिकों को ग्रहण करता है, वे क्रम से ही गृहीत होते हैं; बिना क्रम के नहीं आते। यह अर्थ मैंने अपनी समझ के अनुसार किया है तत्त्वं तु केवलिगम्यम्।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! जीव जो प्राणातिपात क्रिया करता है, वह क्रिया अनुक्रम से की गई है, ऐसा कहा जा सकता है? इसके उत्तर में भगवान् ने फर्माया—हां, गौतम! कहा जा सकता है।

यह प्राणातिपात क्रिया का समुच्चय विचार हुआ। लेकिन भगवान् के यहां एक का विचार हो और एक का न हो, यह नहीं हो सकता। पूर्ण पुरुष के समक्ष किसी भी प्रकार की अपूर्णता नहीं ठहर सकती। सर्वज्ञ के सिद्धान्तों में सभी का उचित विचार किया जाता है।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! नरक के जीव प्राणातिपात क्रिया करते हैं?

भगवान् ने फर्माया—गौतम! हां, करते हैं। शेष सब प्रश्नोत्तर पूर्वोक्त सामान्य जीव के कथन के समान ही समझना चाहिए; मगर नारकी जीवों के सम्बन्ध में छह दिशाओं का ही स्पर्श कहना चाहिए। त्रस-नाड़ी में होने के कारण आलोक के अन्तर का व्याघात वहां नहीं होता।

एकेन्द्रिय के पांच दण्डकों को छोड़कर शेष सब दण्डकों के सम्बन्ध में नारकियों के समान ही कथन समझना चाहिए। एकेन्द्रिय में समुच्चय जीव की तरह छह दिशाओं और तीन दिशाओं का स्पर्श कहा गया है। एकेन्द्रिय को तीन दिशा की क्रिया भी लगती है, चार की भी लगती है और पांच की भी लगती है। उत्कृष्ट छह दिशा की क्रिया तो है ही।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! प्राणातिपात से ही

क्रिया लगती है, या और किसी तरह से भी क्रिया लगती है? भगवान् ने फर्माया—हे गौतम! अठारह तरह से क्रिया लगती है। प्राणातिपात के समान ही शेष सत्तरह स्थानों को भी समझ लेना चाहिए।

प्राणातिपात क्रिया के समान मृषावाद की क्रिया के भी प्रश्नोत्तर समझना। जैसे-भगवन्! क्या जीव मृषावाद की क्रिया करता है? भगवान ने उत्तर दिया—हां, गौतम! करता है।

साधारण झूठ तो सभी की समझ में आजाता है, परन्तु तात्त्विक (तत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले) झूठ को समझ लेना इतना सरल नहीं है। घड़े को घड़ा कहना, कपड़ा नहीं कहना यह साधारण सत्य है। घड़े को घड़ा कहने की बात व्यवहारिक है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से देखना चाहिए कि एकान्त दृष्टि से घड़े को घड़ा समझ कर कहा है या अनेकांत दृष्टि से? घट के कारणों की प्ररूपणा में कोई विपर्यास तो नहीं है? उदाहरणार्थ प्रश्न किया गया कि घट की उत्पत्ति कहां से हुई है? उत्तर होगा—कुंभार से। तब पूछा गया—कुंभार उपादान कारण है? या निमित्त कारण है? अगर किसी ने कुंभार को उपादान कारण कहा तो समझिए कि यह कथन मिथ्या है। क्योंकि उपादान कारण पहले तो कारणरूप होता है फिर कर्त्ता और निमित्त कारण के व्यापार से स्वयं कार्य-रूप में परिणत हो जाता है। जैसे कपड़ा सूत से बना है, अतः

सूत, कपड़े का उपादान कारण है, क्योंकि सूत, जुलाहे और करघा आदि निमित्त कारणों के संसर्ग से स्वयं ही कपड़े के रूप में परिणत हो जाता है। अगर सूत के आगे चल कर विचार करें तो रुई उपादान कारण ठहरेगी और सूत उसका कार्य होगा। इस प्रकार आगे बढ़ते जाने पर अन्त में विवाद खड़ा हो जाता है। जैसे-प्रश्न किया गया-रुई कहां से आई? उत्तर मिला—मिट्टी से फिर प्रश्न हुआ-मिट्टी कहां से आई? उत्तर मिलेगा-परमाणु से। यह अन्त हुआ। इस पर प्रश्न उपस्थित होता है—परमाणु कहां से आये? इस प्रश्न के उत्तरमें मतभेद होता है कोई कहता है-ईश्वर से, कोई कहता है परमाणु सदैव विद्यमान रहते हैं। इस सम्बन्ध में जैन धर्म की मान्यता यह है कि जैसे जीव अनादि से है उसी प्रकार पुद्गल द्रव्य भी अनादिसे है। ईश्वर-वादी जैसे ईश्वर को अनादि मानते हैं उसी प्रकार पुद्गल को अनादि मानने में कोई बाधा नहीं दिखाई देती।

मतलब यह है कि घड़ा कुमार ने बनाया है, यह तो सभी कहेंगे, मगर उसकी कारण-परम्परा पर--उसके मूल पर विचार करने पर अनेक प्रकार के विवाद उपस्थित हो जाते हैं, यद्यपि कई ऐसे दर्शन शास्त्र भी हैं जो घड़े को काल्पनिक मानते हैं और घड़े की तरह अन्यान्य पदार्थों को भी कल्पना ही समझते हैं। उनके अभिप्राय से ज्ञान या ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी भी पदार्थ का वास्तव में अस्तित्व नहीं है।

निमित्त कारण वह कहलाता है, जो कार्य की उत्पत्ति में सहायक तो हो, मगर स्वयं कार्य के रूप में न पलटे। जैसे घड़ा बनने में चाक, डंडा आदि। इन कारणों की घड़ा बनाने में आवश्यकता है, मगर वे घड़े को बनाकर अलग रह जाते हैं; स्वयं मिट्टी की भांति घट नहीं बन जाते, अतएव वह उपादान कारण नहीं, वरन् निमित्त कारण है। घड़े में तो मिट्टी आई है, अतएव वही उपादान कारण है।

इस प्रकार घड़े को घड़ा कहने पर भी जो उपादान और निमित्त कारण को ठीक मानता और जानता है, वही तात्त्विक दृष्टि से ठीक कहता है—सत्यवादी है; अन्यथा उसे मिथ्याभाषी ही समझना चाहिए।

यह बात दूसरी है कि ऐसी तात्त्विक बातें एकदम अपनी समझ में न आवें और आप इस सूक्ष्म सत्य का पालन न कर सकें; परन्तु इस ओर ध्यान बढ़ाना उचित है। बात को ठीक तरह समझे बिना विवाद करने से—आग्रहशील बन बैठने से मृषावाद लिप्त होता है।

एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि आत्मवंचना ही झूठ है। जहां परवंचना है वहां आत्मवंचना अवश्यंभावी है। मान लीजिए, एक आदमी आपके पास दस रुपये मांगने आया।

आपके पास रुपये अवश्य हैं, लेकिन आप देना नहीं चाहते और सत्य बोलने का भी आपमें साहस नहीं है। इसलिए आपने कह-दिया—हमारे पास अभी रुपये नहीं हैं, होते तो दे देता। असल में देने की इच्छा नहीं थी, मगर बहाना आपने यह बनाया कि रुपये नहीं हैं। ऐसा करके आप समझते हैं कि आपने उसे समझा दिया, परन्तु दरअसल आपने अपने आपको धोखा दिया है। कहीं आपके वचन में सत्य होने की शक्ति होती तो क्या होता? सचमुच ही आपके घर में का रुपया गायब हो जाता! मगर आप जानते हैं कि हमारे नहीं कर देने से रुपये कहीं चले थोड़े ही जाएँगे! इस प्रकार तो सत्यवादी की ही बात सत्य हुआ करती है। आपको अपने सत्य पर ही विश्वास नहीं है।

आपने असत्य बोलकर रुपये मांगने वाले को टाल दिया, मगर उसका आपके ऊपर विश्वास नहीं रहा। वह जान गया कि आप चाहते तो रुपये दे सकते थे, किन्तु मतलब निकालने के लिए झूठ भी बोल सकते हैं। इस प्रकार की आत्मवंचना करके आपने अपने को सत्पुरुषों की गणना से बाहर कर लिया। जब तक आप झूठ नहीं बोले थे—आत्मवंचना आपने नहीं की थी तब तक आप सत्यरूप थे। परन्तु झूठ बोलने के कारण आपका ईश्वरत्व ठगा गया। अगर आप साहस करके स्पष्ट कर देते—मेरे पास रुपये हैं, मगर अमुक कारण से नहीं दे सकता, तो

थोड़ी देर के लिए वह मांगने वाला पुरुष बुरा चाहे मान लेता परन्तु कहता कहता ही कि मुझे रुपये नहीं दिये, यह बात दूसरी है, मगर हैं सत्पुरुष—झूठ नहीं बोलते। लेकिन आप मनुष्य को नाराज नहीं करना चाहते, ईश्वर भले ही नाराज हो जाय। शास्त्र में कहा है —

सच्चं भगवं

सत्य भगवान् है। उस भगवान् को आपने असत्य बोलकर नाराज कर दिया। आप कदाचित् सोचते होंगे कि ऐसा किये बिना हमारा काम नहीं चलता, मगर यह आपका भ्रम है। चिरकालीन अभ्यास के कारण ही आपको ऐसा मालूम होता है। इसी भ्रम के शिकार होकर लोग सत्य बोलकर मनुष्य को नाराज करने की अपेक्षा झूठ बोलकर सत्य का परित्याग करते हैं।

यह सम्भव है कि कभी रुपये आपके घर में हों, मगर आपको उनके होने का पता नहीं है और आप कह देते हैं कि भाई! मैं देना तो चाहता था, मगर रुपये मेरे पास नहीं हैं। ऐसी अवस्था में आपको मृषावाद की क्रिया नहीं लगती; क्योंकि आपने जो कुछ कहा है उसे सत्य समझकर ही कहा है। अलबत्ता, जहाँ जान-बूझकर, कपट करके मृषावाद किया जाता है, वहाँ मृषावाद का पाप अवश्य लगता है।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि प्राणातिपात से लगने वाली क्रिया कौन-सी है और मृषावाद से लगने वाली क्रिया कौन-सी है ! इसका उत्तर यह है कि वस्तु तो एक ही है, किन्तु प्राप्ति के कारण अलग-अलग हैं । एक आदमी हाथ से भोजन करता है, दूसरा छुरी कांटे से। हाथ से खाने पर हाथ का चेप लगेगा और छुरी आदि से खाने पर उनका चेप लगेगा। इसी प्रकार प्राणातिपात करने पर प्राणातिपातजन्म क्रिया लगती है और मृषावाद करने पर मृषावाद जन्म क्रिया लगती है।

गौतम स्वामी पूछते हैं--प्रभो ! क्या अदत्तादान की भी क्रिया लगती है ?

भगवान् उत्तर देते हैं--हां, गौतम ! लगती है।

विना दिये किसी की चीज ले लेना अदत्तादान कहलाता है। कोई आदमी विना दी गई वस्तु तो न ले, परन्तु किसी से ऐसी लिखत लिखा लेवे कि जिससे विवश हो कर उस लिखने वाले को लिखत के अनुसार देना पड़े; देने वाले का चित्त बेहक का देने के कारण दुःखी हो, तो ऐसा लेने वाला अदत्तादान करता है। भले ही लेने वाला यह समझे कि वह अदत्तादान नहीं करता, लेकिन ज्ञानी यह कहते हैं कि कुटिलता का भाव रखकर बेहक का लेना अदत्तादान को ही अन्तर्गत है।

'अदत्तादान' का शब्दार्थ तो इतना ही है किसी की बिना दी हुई चीज न लेना। मगर उसका भाव-अर्थ बहुत व्यापक है। कहां-कहां किस-किस प्रकार से अदत्तादान का पाप लगता है, यह जानने के लिए विवेक की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ—दो भाई शामिल भोजन करते हैं। चीज थोड़ी है और अधिक मिलने की आशा नहीं है। यह मालूम है कि इस चीज में दोनों का हक बराबर है, लेकिन एक का हाथ धीमा चलता है और दूसरे का जल्दी-जल्दी। इस कारण एक भाई अपने भाग से भी अधिक खा गया और दूसरे को उसका भत्ता भी पूरा नहीं मिला। तो ज्यादा खाने वाले को अदत्तादान की क्रिया लगती है या नहीं ? आप कहेंगे—उसने कब चोरी की है ? वह तो दूसरे के सामने बैठ कर ही खा रहा था। किन्तु ज्ञानी पुरुष कहते हैं--उसने ध्यान नहीं रक्खा कि इस चीज में दोनों का भाग बराबर-बराबर है। प्राण-रक्षा दोनों करना चाहते हैं। लेकिन उसने उसकी रक्षा की पर्वा नहीं की। अगर वह जल्दी भोजन करता था तो उसे उचित था कि वह पहले ही दो भाग कर लेता या अपने ही हक का खाता। और ऐसा किया होता तो उसे अदत्तादान की क्रिया न लगती।

एक उदाहरण और लीजिए। मान लीजिए, आप चालाक एवं होशियार हैं और दूसरा आदमी सीधा और भोला है, ऐसे भोले आदमी को किसी प्रकार की चाल में फँसा अनुचित स्वार्थ

से कुछ ऐंठ लेना और फिर यह कहना कि मैं विना दिये नहीं लेता या हक का लेता हूँ, ठीक नहीं। यह भी अदत्तादान है। आप की दृष्टि में चाहे वह अदत्तादान न हो, मगर ज्ञानी की दृष्टि में वह अदत्तादान है अगर आप यह सोचें कि यह भोला है तो क्या हुआ, इसे इसके हक का मिलना चाहिए और मुझे मेरे हक का; और आप उचित भाग ही लें तो आपको अदत्तादान की क्रिया नहीं लगेगी।

प्रकृति-प्रदत्त पदार्थों पर सबका समान अधिकार है। कल्पना कीजिए आपके पास दो कोट हैं। आपकी ठंड दूर करने के लिए एक ही कोट, काफी है। दूसरा कोट पहनने से शरीर में खराबी होती है। यदि ऐसे अवसर पर आपके सामने दूसरा आदमी ठंड का मारा मर रहा है। आप उसे कोट न देकर कहें कि यह कोट हमारा है, तो यह अदत्तादान है या नहीं? अगर आपके पास बेकाम पड़ा हुआ कोट, शीत से पीड़ीत पुरुष छीन ले तो उसे सरकार दंड देती है, परन्तु जिन्होंने बिना आवश्यकता के दो कोट पहन रक्खे हैं, या कई-एक कोट वृथा ट्रंकों में भर रक्खे हैं, उन्हें सरकार सजा नहीं देती। ऐसा विचित्र यह न्याय है! सरकार छीनने वाले को ही दंड देने का कानून बना सकी है, इससे आगे उसकी गति कुंठित हो गई है, लेकिन धर्म कहता है कि अपने पास इतना अनावश्यक रखना कि जिसके कारण

दूसरे जीवित न रह पावें, अदत्तादान नहीं तो क्या है ?

आपने एक मजदूर से बोझा उठवाया। आप उसे मजदूरी देंगे। उसने तो अपना पेट भरने के लोभ से अपनी शक्ति से अधिक बोझ उठाया, लेकिन आपको उसकी शक्ति देखना चाहिए। उसमें अगर उतना बोझ उठाने की शक्ति नहीं है और आप जानते हैं कि इतना उठाने से वह अधमरा हो जायगा, फिरभी आपने उसपर बोझ लाद दिया, तो पैसे देने के कारण आप व्यवहार में चाहे न पकड़े जावें, लेकिन शास्त्र कहता है कि यह अतिभारारोपण नामक अहिंसाव्रत का अतिचार है। मतलब यह है कि आप जिसे हक मानते हैं, वह वास्तव में हक है या नहीं, इस बात का विचार आपको गम्भीरता पूर्वक करना चाहिए। कोट पहनकर अपनी ठंड मिटा लेना आपका हक है, लेकिन आप अनावश्यक लादे रहें और दूसरा ठंड के मारे मर रहा हो, यह हक आपको नहीं है। बेईमानी से कमाना और बेईमानी से खर्च करना हक नहीं है। गीता में भी कहा है कि जिसने दिया है, उसे न देकर अकेले हड़प जाना चोरी है —

आपको जिन गरीबों ने कपड़ा बनाकर दिया है, वे–नंगे नंगे रहें या कष्ट भोग रहे हैं और आप अनावश्यक दो कोट लादे रहते हैं ? अगर आपने अपने दो कोटों में से एक ठंड से मरते हुए गरीब को दे दिया, तो कहा जायगा कि आपने हक

का विचार किया है, अन्यथा आप हक पर न्याय नीति पर ध्यान नहीं दे रहे हैं। ऐसी अवस्था में शास्त्रीय परीभाषा के अनुसार अदत्तादान की क्रिया की।

अगर आप अदत्तादान की क्रिया से बचना चाहते हैं तो हक कायदे के कोई भी काम मत कीजिए। एक दरी अगर चौड़ी बिना करली जाय तो उस पर कई आदमी बैठ सकते हैं पर ऐसा न करके उस दरी को समेट कर आप ही अकेले बैठ जायँ तो यह कायदे की बात नहीं।

अदत्तादान में स्थूल और सूक्ष्म भेद है। स्थूल अदत्तादान का त्याग करके धीरे २ सूक्ष्म अदत्तादान का भी त्याग करना चाहिए। शास्त्र में साधुओं के संबंध में कहा है कि अगर दो साधु एक साथ भोजन लाये और एक साधु ने उसमें से एक कौर भी अधिक खा लिया तो उसे अदत्तादान की क्रिया लगी। आप संसार व्यवहार में पचे रहते हैं। अगर इतने सूक्ष्म अदत्तादान का त्याग न कर सके तो भी आदर्श तो यही सामने रखना चाहिए। किसी को अन्तराय तो नहीं देना चाहिए।

इसी प्रकार अठारहों पापों की क्रिया लगती है, इसलिए विवेक के साथ विचार कर पाप से बचने के लिए निरन्तर उद्योग करना चाहिए। अगर अठारहों पापों का अन्त अलग विवेचन किया जाय तो उसका पार पाना कठिन है। अतः संक्षेप में ही उस पर प्रकाश डाला जाता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ और राग द्वेष का थोड़ा सा स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। जीव को इन विकारों के द्वारा भी क्रिया लगती है। चाहे वह चीज हो या न हो, लेकिन यदि लोभ नहीं मिटेगा तो क्रिया लगेगी ही। उदाहरण के लिए, किसी आदमी के पास पाँच ही रुपया है, मगर वह लखपति होने की चाह रखता है तो चाहे वह लखपति हो या न हो, उसे लखपति की क्रिया लगेगी। इसके विपरीत अगर कोई लखपति होकर भी अपनी सम्पत्ति के प्रति ममत्व नहीं रखता तो उसे संचय की ही क्रिया लगेगी, लोभ की क्रिया नहीं लगेगी।

प्रश्न होता है कि जब अठारह पाप स्थानों में क्रोध और मान का नामोल्लेख कर दिया है तो फिर द्वेष की अलग क्यों गणना की है? इसी प्रकार जब माया और लोभ का नाम गिना दिया है तब राग को अलग कहने की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर यह है कि जिसमें क्रोध और मान—दोनों का समावेश हो जाता है, वह द्वेष कहलाता है और माया एवं लोभ के मिलने से राग होता है। जैसे दो रंगों के मिलाने से तीसरा रंग तैयार हो जाता है, इसी प्रकार राग और द्वेष, क्रोध, मान, माया तथा लोभ से होने पर भी क्रोध और मान से द्वेष तथा माया और लोभ से राग होता है। अर्थात् दो-दो का एक-एक में समावेश हो जाने से अलग पड़ जाता है।

प्रेम और द्वेष में भी बड़ा अन्तर है। यह भी प्रकृति का भेद है। पूर्ण वीतराग अवस्था में तो प्रेम का भी सद्भाव नहीं रहता, परन्तु नीची अवस्था में प्रेम रहता है। यहाँ प्रेम का अर्थ अभिष्वंग समझना चाहिए। अभिष्वंग रूप प्रेम, राग ही है, जिसे लोग प्रेम कहते हैं। उदाहरणार्थ-किसी को स्त्री से धन से भंग से, मदिरा से या मिठाई से प्रेम होता है। यह प्रेम, प्रेम नहीं राग है, क्योंकि इसमें अभिष्वंग है।

जिसमें माया और लोभ का भेद अलग-अलग मालूम न हो, पर शक्कर एवं दही, या दूध और मिश्री की तरह दोनों एकमेक हो रहे हों, और इस कारण एक तीसरा ही रूप उत्पन्न हो गया हो, इसे संसार में प्रेम कहते हैं। यह प्रेम-'अट्ठिमिंजा पेमाणुरागरत्ता' या 'धम्मपेमाणुरागरत्ता' के समान प्रेम नहीं है, वरन् राग ही है।

जिसमें क्रोध और मान का अलग-अलग भेद न किया जा सके, जिसमें दोनों का ही समावेश हो, जाए, वह द्वेष होने पर नफरत होती है। यह नफरत क्रोध से हुई है या मान से, यह नहीं जाना जा सकता। अतएव यह द्वेष कहलाता है।

मोहनीय कर्म के उदय से चित्त में जो उद्वेग होता है, उसे आरति समझना चाहिए और मोहनीय कर्म उदय से उत्पन्न विषयानुराग को रति समझना चाहिए।

कपट युक्त झूठ बोलना माया मृषावाद कहलाता है। झूठ दो प्रकार का होता है। एक को काला झूठ और दूसरे को सफेद झूठ कह सकते हैं। काले झूठ को सब लोग पहचान लेते हैं, मगर सफेद झूठ को पहचानना कठिन होता है। सफेद झूठ को काम में लाने वाले लोग ऊपर से ऐसी पालिसी प्रकट करते हैं कि वह झूठ भी सत्य प्रतीत होने लगता है। आज की विद्या की यही तारीफ है कि उसे पढ़ने वाले लोग सफेद झूठ बोलने में चतुर हो जाते हैं। लेकिन शास्त्र ऐसे किसी भी झूठ को प्रश्रय नहीं देता।

झूठ तो मृषावाद रूप ही है, लेकिन माया मृषावाद कपट युक्त झूठ है। दार्शनिक भेद डालकर मारामारी फैलाने का काम झूठ बोलने वालों ने नहीं, वरन् मायामृषावादियों ने सफेद झूठ बोलने वालों ने किया है। मायामृषावादी लोग अपने असत्य पर ऐसा रंग चढ़ाते हैं कि साधारण जनता उनके चक्कर में पड़ जाती है। चाहे इस प्रकार की बनावट से लोगों को धोखा दिया जाय, मगर शास्त्र स्पष्ट कहता है कि यह झूठ भी झूठ है।

कदाचित् आप कहें कि ऐसा किये बिना काम कैसे चल सकता है? लेकिन इसके साथ यह भी विचार कीजिए कि अगर संसार के सभी लोग इसी प्रकार झूठ बोलने लगें—सभी एक-

दूसरे को फाँसने के प्रयत्न में लगजाएँ तो क्या संसार का काम चलेगा ?

'नहीं' !

फिर यों तो कलाल भी कहता है कि शराब पिये बिना काम नहीं चलेगा। वेश्याएँ भी कहती हैं कि अगर हम न होंगी तो समाज का काम कैसे चलेगा ? अगर यह बातें ठीक मानी जाएँ तो यह भी माना जा सकता है कि कपट सहित झूठ के बिना संसार–व्यवहार नहीं चल सकता।

आप लोगोंने जिस सफेद झूठ के बोलने से अपने आपको होशियार मान रक्खा है, उसे एक मास के लिए ही त्याग कर देखो; और इस एक महिने की आमदनी से झूठ बोले हुए एक महिने की आमदनी मिलाकर देखो तो मालूम होगा कि झूठ बोले बिना काम चल सकता है या नहीं ! यह तो आपकी आदत पड़ गई है कि झूठ बोले बिना आपको काम चलता नहीं दिखाई देता। मगर सत्य की ओर झुको तो झुठ की बुराई और सत्य की महिमा देखकर चकित हो जाओगे।

कल्पना कीजिए, एक बड़ी और मोटी लकड़ी जमीन पर पड़ी है और दूसरी उतनी ही बड़ी जल में पड़ी है। जमीन पर पड़ी लकड़ी को घुमाने में कई लोगों की आवश्यकता होगी। लेकिन जल में पड़ी लकड़ी को घुमाने के लिए उतने आदमियों की आव-

रुकना न होगी। उसे एक साधारण-सा बालक भी घुमा सकता है। क्योंकि उसे घुमाने में एक दूसरी शक्ति सहायक है। आप कहते हैं-असत्य के बिना काम नहीं चल सकता, लेकिन मेरा कथन यह है कि सत्य के बिना काम नहीं चल सकता। सत्य ईश्वरीय सहारा है। इस सहारे की विद्यमानता में किसी भी काम में जरासा इरादा होने की आवश्यकता है, फिर कार्य सिद्ध होने में विलम्ब नहीं लगता। मगर लोग यह अनुभव नहीं करते। वे झूठ में ऐसे तल्लीन हैं कि उन्हें सत्य के अमोघ सामर्थ पर विश्वास ही नहीं है। सत्य का शरण ग्रहण करो तो परम कल्याण होगा।

मिथ्यादर्शनशल्य—यहाँ दर्शन का अर्थ है—अभिप्राय। जिसे मिथ्यादर्शन का शल्य लग गया, उसे सब बातें झूठी ही झूठी दिखाई देती हैं। ऐसे आदमी को देखकर ज्ञानी को शिक्षा लेनी चाहिए कि—हे आत्मन्! तू इस मिथ्यादर्शन शल्य से बचना! देख, यह बेचारा अज्ञानी मिथ्यादर्शन शल्य के ही कारण सत्य को भी असत्य रूप में देखता है

इस प्रकार गौतम स्वामी ने अठारहों पापों के विषय में प्रश्न किये और भगवान् ने सब के उत्तर दिये। अपने हृदय का समाधान करके गौतम स्वामी सेवं भंते! सेवं भंते! कहकर तप-संयम में लीन हो गये।

भगवान् और आर्य रोह

मूल पाठ—ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंते वासी रोहे णामं अणगारे पगइभद्दए, पगइमउए, पगइविणीए, पगइउवसंते, पगइपयणु कोह-माण-माया-लोभे, मिउमद्दवसंपन्ने, अलीणे, भद्दए, विणीए, समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते, उड्ढंजाणु, अहोसिरे, झाणकोट्ठोवगए, संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ तएणं से रोहे अणगारे जायसड्ढे जावपज्जुवासमाणे एवं वयासीः—

प्रश्न—पुव्विं भंते! लोए, पच्छा अलोए? पुव्विं अलोए, पच्छा लोए?

उत्तर—रोहा ! लोए य अलोए य, पुव्विं पेते, पच्छा पेते, दो वि ए सासया भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

प्रश्न—पुव्विं भंते ! जीवा, पच्छा अजीवा ? पुव्विं अजीवा, पच्छा जीवा ?

उत्तर—जहेव लोए, अलोए, य; तहेव जीवा य अजीवा य । एवं भवसिद्धिआ य अभवसिद्धिआ य, सिद्धि, असिद्धी य । सिद्धा असिद्धा ।

प्रश्न—पुव्विं भंते ! अंडए, पच्छा कुक्कुडी ? पुव्विं कुक्कुडी पच्छा अंडए ?

'रोहा ! से णं अंडओ कओ ?'

'भयवं ! कुक्कुडीओ !'

'साणं कुक्कुडी कओ ?'

'भंते ! अंडयाओ !'

उत्तर—एवामेव रोहा! से य अंडए, सा य कुक्कुडी पुव्विं पेते, पच्छा पेते-दुवे सासया भावा, अणाणुपुव्वीं एसा रोहा !

प्रश्न—पुव्विं भंते ! लोयंते, पच्छा अलोयंते ? पुव्विं अलोयंते, पच्छा लोयंते ?

उत्तर—रोहा ! लोयंते य अलोयंते य, जाव अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

प्रश्न—पुव्विं भंते ! लोयंते, पच्छा सत्तमे उवासंतरे ? पुच्छा ।

उत्तर—रोहा ! लोयंते य, सत्तमे उवासंतरे, पुव्विं पि दो वि पते; जाव-अणाणुपुव्वी ऐसा रोहा ! एवं लोयंते य, सत्तमे य तणु वाए, एवं घणवाए, घणोदही, सत्तमा पुढवी । एवं लोयंते एक्केक्केणं संजोएयव्वे

इमेहिं ठाणेहिं, तं जहा:—

उवास-वाय-घणउदहि-पुढवी-दीवा य सगारा वासा।
नेरइ आई अत्थिय समया कम्माइं लेस्साओ ॥
दिट्ठि दंसण णाणा सण्णा सरीरा य जोग उवओगे ।
दव्व पएसा पज्जव अद्धा किं पुव्वि लोयंते ॥

प्रश्न—पुव्विं भंते ! लोयंते, पच्छा सव्वद्धा ?

उत्तर—जहा लोयं तेणं संजोइआ सव्वे ठाणा, एते एव अलोयंतेण वि संजोएयव्वा सव्वे ।

प्रश्न—पुव्विं भंते ! सत्तमे उवासंतरे पच्छा सत्तमे तणुवाए ?

उत्तर—एवं सत्तमं उवासंतरं सव्वेहिं समं संजोएयव्वं, जाव सव्वद्धाए ।

प्रश्न— पुव्विं भंते ! सत्तमे तणुवाए, पच्छा सत्तमे घणवाए ?

उत्तर—एयं पि तहेव नेयव्वं, जाव-सव्वद्धा । एवं उवरिल्लं एक्केक्कं संजोयंतेणं जो जो हिट्ठिल्लो, तं तं छड्डंतेणं नेयव्वं, जाव-अतीअ अणागयद्धा, पच्छा सव्वद्धा, जाव अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

सेवं भंते ! सेवं भंते ! ति जाव—विहरइ ।

संस्कृत-छाया-तस्मिन् काले, तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तेवासी रोहो नाम अनगारः प्रकृतिभद्रकः, प्रकृतिमृदुकः, प्रकृतिविनीतः, प्रकृत्युपशान्तः, प्रकृतिप्रतनुक्रोध—मान—माया—लोभः, मृदुमार्दवसम्पन्नः, अलीनः, भद्रकः, विनीतः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अदूरसामन्ते, ऊर्ध्वजानुः, अधःशिराः, ध्यानकोष्ठोपगतः, संयमेन तपसा आत्मानं भावयन् विहरति । तदा स रोहोऽनगारो जातश्रद्धो यावत् पर्युपासीन एवमवादीत् —

प्रश्न—पूर्वं भगवन् ! लोकः पश्चात् अलोकः, पूर्वम् अलोकः, पश्चाद् लोकः ?

उत्तर—रोह ! लोकश्च, अलोकश्च पूर्वमपि एतौ, पश्चाद् अपि एतौ, द्वौ अपि एतौ शाश्वतौ भावौ, अनानुपूर्वी एषा रोह !

प्रश्न—पूर्वं भगवन् ! जीवाः, पश्चाद् अजीवाः, पूर्वं अजीवाः, पश्चाद् जीवाः ?

उत्तर—यथैव लोकः, अलोकश्च; तथैव जीवाश्च, अजीवाश्च। एवं भवसिद्धिकाश्च अभवसिद्धिकाश्च। सिद्धिः, असिद्धिः, सिद्धाः, असिद्धाः।

प्रश्न—पूर्वं भगवन् ! अण्डकम्, पश्चात् कुक्कुटी ? पूर्वं कुक्कुटी पश्चात् अण्डकम् ?

'रोह ! तद् अण्डकं कुतः ?

'भगवन् ! कुक्कुटीतः ।'

'सा कुक्कुटी कुतः ।'

'भगवन् ! अण्डकात् ।'

उत्तर—एवमेव रोह ! तद् अण्डकम् सा च कुक्कुटी पूर्वमपि एते पश्चादपि एते द्वे अप्येते शाश्वतौ भावौ । अनानुपूर्वी एषा रोह !

प्रश्न—पूर्वं भगवन् ! लोकान्तः, पश्चाद्, अलोकान्तः ? पूर्वं अलोकान्तः ? पश्चाद् लोकान्तः ?

उत्तर--रोह ! लोकान्तश्च, अलोकान्तश्च, यावत् अनानुपूर्वी एषा रोह !

प्रश्न पूर्वं भगवन् ! लोकान्तः, पश्चात् सप्तममवकाशान्तरम् ? पृच्छा।

उत्तर—रोह ! लोकान्तश्च, सप्तमम्–अवकाशान्तरम्। पूर्वमपि द्वौ अपि एतौ यावत्–अनानुपूर्वी एषा रोह ! एवं लोकान्तश्च सप्तमश्च तनुवातः, एवं घनवातः, घनोदधिः, सप्तमी पृथ्वी। एवं लोकान्त एकैकेन संयोजयितव्य एभिः स्थानैः, तद्यथा—

अवकाश-वात-घनोदधि-पृथिवी-द्वीपाश्च सागराः वर्षाणि।
नैरयिकादि–अस्तिकायाः समयाः कर्माणि लेश्याः॥
दृष्टिदर्शनं ज्ञानानि संज्ञा शरीराणि च योगोपयोगौ।
द्रव्यप्रदेशाः पर्यवाः अद्धा किं पूर्वं लोकान्तः॥
प्रश्न—पूर्वं भगवन् लोकान्तः पश्चात् सर्वाद्धा !

उत्तर—यथा लोकान्तेन संयुक्तानि सर्वाणि स्थानानि एतानि, एवम् अलोकान्तेनापि संयोजयितव्यानि सर्वाणि।

प्रश्न—पूर्वं भगवन् ! सप्तमम् अवकाशान्तरम्, पश्चात् सप्तमस्तनुवातः ?

उत्तर— एवं सप्तमम् अवकाशान्तरम् सर्वैः समं संयोजयितव्यम् यावत् सर्वाद्धा।

प्रश्न—पूर्वं भगवन् ! सप्तमस्तनुवातः, पश्चात् सप्तमो घनवातः ?

उत्तर—एतमपि तथैव ज्ञातव्यम्, यावत् सर्वाद्धा। एवं उपरितनम् एकैकेन संयोजयता यो योऽधस्तनः, तं तं छर्दयता ज्ञातव्यम् यावत् अतीत-अनागताद्धा, यावत्-अनानुपूर्व्या रोह !

तदेवं भगवन् ! तदेवं भगवन् ! इति यावत् विहराति।

शब्दार्थ-

उस काल और उस समय, श्रमण भगवान् महावीर के शिष्य रोह नामक अनगार थे। वह स्वभाव से भद्र, स्वभाव से कोमल, स्वभाव से विनीत, स्वभाव से शान्त, अल्प क्रोध, मान, माया, लोभ वाले, अत्यन्त निरभिमान, गुरु के समीप रहने वाले, किसी को कष्ट न पहुंचाने वाले और गुरुभक्त थे। वह रोह अनगार ऊर्ध्व जानु और नीचे झुके मुख वाले, ध्यानरूपी कोठे में प्रविष्ट, संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए श्रमण भगवान् महावीर के समीप विचरते हैं। तत्पश्चात् वह रोह अनगार

जातश्रद्ध हो कर यावत् भगवान् की पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले:—

प्रश्न–भगवन् ! पहले लोक है और पश्चात् अलोक ? या पहले अलोक और फिर लोक ?

उत्तर–रोह ! लोक और अलोक, पहले भी हैं और पीछे भी हैं। यह दोनों ही शाश्वत-भाव हैं। हे रोह ! इन दोनों में यह पहला और यह पिछला ऐसा क्रम नहीं है।

प्रश्न भगवन् ! जीव पहले और अजीव पीछे हैं ? या पहले अजीव और फिर जीव हैं ?

उत्तर–हे रोह ! जैसा लोक और अलोक के विषय में कहा है, वैसा ही जीवों और अजीवों के सम्बन्ध में समझना चाहिये। इसी प्रकार भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक, सिद्धि और असिद्धि तथा सिद्ध और संसारी भी जानने चाहिए।

प्रश्न–भगवन् ! पहले अंडा और फिर मुर्गी है ? या पहले मुर्गी और फिर अंडा है ?

'हे रोह ! वह अंडा कहां से आया ?'

'भगवन् ! वह मुर्गी से हुआ।'

'हे रोह! वह मुर्गी कहां से आई?'

'भगवन्! मुर्गी अंडे से हुई।'

उत्तर-इसी प्रकार हे रोह! मुर्गी और अंडा पहले भी है और पीछे भी है, यह शाश्वत भाव है। रोह! इन दोनों में पहले-पीछे का क्रम नहीं है।

प्रश्न-भगवन्! पहले लोकान्त और फिर अलोकान्त है? अथवा पहले अलोकान्त और फिर लोकान्त है?

उत्तर--रोह! लोकान्त और अलोकान्त, इन दोनों में यावत्--कोई क्रम नहीं है।

प्रश्न--भगवन्! पहले लोकान्त है और फिर सातवां अवकाशान्तर है? इत्यादि प्रश्न करना।

उत्तर--हे रोह! लोकान्त और सातवां अवकाशान्तर, यह दोनों पहले भी हैं पिछे भी इस प्रकार यावत्--रोह! इन दोनों में पहले-पीछे का क्रम नहीं है। इसी प्रकार लोकान्त, सातवां तनुवात, इसी प्रकार घनवात, घनोदधि और सातवीं पृथ्वी। इस प्रकार प्रत्येक के साथ लोकान्त को निम्नलिखित स्थानों के साथ जोड़ना चाहिए।

अवकाशान्तर, वात, धनोदधि, पृथ्वी, द्वीप, सागर, वर्ष, (क्षेत्र), नारकी, आदि जीव, अस्तिकाय, समय, कर्म, लेश्या, दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, संज्ञा, शरीर, योग, उपयोग, द्रव्यप्रदेश, और पर्याय, तथा क्या काल पहले है और लोकान्त बाद में है ?

प्रश्न–भगवन् ! लोकान्त पहले और सर्वाद्धा बाद में है ?

उत्तर--रोह ! जैसे लोकान्त के साथ सब स्थानों का संयोग किया, उसी प्रकार इस सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। और इसी प्रकार इन स्थानों को अलोकान्त के साथ भी जोड़ना चाहिए।

प्रश्न–भगवन् ! पहले सातवां अवकाशान्तर और फिर सातवाँ तनुवात है ?

उत्तर--हे रोह ! इसी प्रकार सातवें अवकाशान्तर को पूर्वोक्त सब के साथ जोड़ना चाहिए, इसी प्रकार सर्वाद्धा तक समझना चाहिए।

प्रश्न–भगवन् ! पहले सातवां तनुवात और फिर सातवां घनवात है ?

उत्तर-हे रोह ! यह भी उसी प्रकार जानना, यावत्-सर्वाद्धा । इस प्रकार एक-एक का संयोग करते हुए और जो-जो निचला हो उसे छोड़ते हुए पूर्ववत् समझना। यावत्-अतीत और अनागत काल और फिर सर्वाद्धा, यावत्-हे रोह ! इनमें कोई क्रम नहीं है ।

भगवन् यह इसी प्रकार है, हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है ! ऐसा कहकर यावत् विचरते हैं ।

व्याख्यान—

भगवान् महावीर के एक शिष्य रोह नामक अनगार थे। संभव है आधुनिक रुचि 'रोह' नाम पसंद न करे। मगर प्राचीन काल में नाम पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता था, जितना काम पर। आज की अवस्था इससे विपरीत है। अब काम की ओर नहीं, नाम की ओर ही ध्यान दिया जाता है। मेरे कथन का आशय यह न समझा जाय कि मैं सुन्दर और सार्थक नाम रखने का निषेध करता हूँ। मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि नाम के बजाय काम (कार्य) को प्रधानता मिलनी चाहिए और इसी आधार पर मनुष्य को प्रतिष्ठा या अप्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। रोह ! कितना सीधा-सादा, संक्षिप्त नाम है ! इस संक्षिप्त नाम के साथ उन्होंने कितनी विशेषताएं प्राप्त की थीं !

यह इन्द्र पूजित महात्मा थे। शास्त्रकार ने इनका जो परिचय दिया है, वह आगे आएगा। उन्होंने भगवान् से कुछ प्रश्न किये हैं और भगवान ने उनका उत्तर दिया है।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि हमें प्रश्नोत्तर सुनने से और किसी दूसरे की गुणावली श्रवण करने से क्या लाभ है ? मगर गीता में कहा है कि:—

तद् विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं, ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

अर्थात—उस ज्ञान को पोथी से न चाहो, किन्तु नम्र भाव से आत्मा को झुकाकर गुरु से पूछकर, उनकी सेवा करके प्राप्त करो।

आप गाय से दूध चाहते हैं, मगर क्या उसकी सेवा करके चाहते हैं ? नहीं यह घोर कृतघ्नता है। इसी प्रकार जो ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं मगर उसके बदले ज्ञान दाता की सेवा नहीं करना चाहते, उनका यह भाव स्वार्थ पूर्ण है। ज्ञान अमृत है। गीता के अनुसार ज्ञान देने वाले को झुक कर और नमस्कार करके ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

आज कल बहुत-से लोग अगर नमस्कार भी करेंगे तो अपनी अकड़ चली गई मानेंगे। उनकी समझ ऐसी है कि

उनकी नम्रता ही उनकी प्रशंसा का कारण है। पर इस अभिमान से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। तत्त्वज्ञान प्राप्त करते समय अभिमान को जूतों की तरह दूर रख देना चाहिए अभिमान का त्याग करने पर आत्मा में एक विशेष प्रकार की जागृति उत्पन्न होती है। आत्मा विचारने लगता है—हे आत्मन् ! अब कहां तक तू भयानक ठोकरें खाता फिरेगा ? नम्र बन कर ज्ञान प्राप्त कर ले। इसी में तेरा कल्याण है।

रोह अनगार ने नम्र बनकर ज्ञान प्राप्त किया था। यह बात प्रकट करने के ही लिए शास्त्र में रोह अनगार का परिचय दिया गया है। सबसे पहले रोह अनगार के स्वभाविक गुणों का वर्णन किया गया है। वे प्रकृति से ही भद्र थे।

आजकल तो भद्र या भद्रिक का प्रयोग मूर्ख के अर्थ में होने लगा है। मगर मूर्ख को भद्र या भद्रिक कहना 'भद्र' शब्द का अपमान करना है। भद्रिक पद बड़े-बड़े महात्माओं के लिए प्रयुक्त किया गया है। उसी शब्द को मूर्ख के लिए व्यवहार करना मूर्खतापूर्ण ही है।

'भदि—कल्याणे' धातु से 'भद्र' शब्द बना है। इसका अर्थ है—कल्याणकारी। अर्थात् वस्त्र पहनने वाला और ठाठ से रहने वाला पुरुष ही कल्याणकारी नहीं है, वरन् जिसमें स्वभावतः [illegible] और दूसरों का कल्याण करने का गुण है, वही वास्तव में भद्रिक कहला सकता है।

कहा जा सकता है कि प्रकृति से इस प्रकार का गुण कैसे आ जाता है ? अगर प्रकृति पर ध्यान दिया जाय तो मालूम हो जायगा कि वृक्ष अपना सारा शरीर परोपकार में क्यों लगा देता है ? वृक्ष को आज तक शत्रु कहते हैं। उसने अपना अंग-अंग लकड़ी, पत्ते, फल, फूल आदि सब कुछ परोपकार के लिए ही अर्पित कर दिया है। वह छाया देता है, फल देता है, ज्यादा कुछ नहीं वो आक्सीजन वायु तो देता ही है, जो मनुष्यों के जीवन का मूल है। जिस प्रकार वृक्ष के साथ बुराई करने पर भी वृक्ष भलाई ही करता है, अर्थात् पत्थर मारने पर भी फल-फूल या पत्ता ही देता है, इसी प्रकार जो मनुष्य स्वभाव से भद्र हैं, वे भी बुराई करने वाले के साथ भलाई ही करते हैं। इसके लिए एक उदाहरण दिया जाता है:—

एक राजा प्रकृत्ति का भद्र था। उसका स्वभाव ही यह था कि वह प्रत्येक दशा में दूसरे का कल्याण ही करता था। कल्याण करने की भावना रखने वाले के पास दूसरे के कल्याण की वस्तुएँ इसी प्रकार रहा करती हैं, जिस प्रकार शिकारी अपनी बंदूक भरी हुई रखता है कि कोई शिकार मिले और मारूं।

वह राजा प्रकृति का भद्र था। एक दिन वह जंगल की रचना देखने के लिए जंगल की ओर निकल पड़ा। जंगल की स्वच्छ वायु और जंगली पशु—पक्षियों की रचना देखकर वह

विचारने लगा—हम सद्गुण प्राप्त करने के लिए पुस्तकों के साथ माथापच्ची करते हैं, मगर सद्गुण इस जंगल में स्वतः उत्पन्न हो सकते हैं, वह पुस्तकों में कहाँ रक्खे हैं !

राजा जंगल में भ्रमण करता-करता दोपहर की धूप से घबड़ा गया उसने जंगल में विश्राम करने का विचार किया । वह एक बेर के झाड़ के नीचे विश्राम करने लगा । यद्यपि बेर के झाड़ में कांटे थे, मगर राजा ने उसकी छाया सुन्दर देखकर वहीं विश्राम किया ।

राजा बेर के पेड़ नीचे सोगया । राजा ने अपने साथी पहरेदारों को दूर रहने के लिए कहा, जिससे निद्रा में व्याघात न हो, पहरेदारों की [illegible] में बाधा न पड़े और शुद्ध हवा मिल सके । जब राजा सो रहा था तो एक ग्रामीण पथिक उस ओर से निकला । पथिक इतना भूखा था कि उसका पेट पाताल में जा रहा था । वह भूख मिटाने का उपाय सोच रहा था कि उसे बेर का पेड़ नजर आया । पथिक ने सोचा—बेर के फलों से ही भूख कुछ शान्त हो जायगी ।

पथिक ने देखा—पेड़ फलों से लदा है । उसने सोचा—पेड़ के ऊपर चढ़ूँगा तो फिर उतरने में कुछ देर लगेगी, इस लिए पत्थर से झाड़ना ठीक है । उसने पेड़ में जोर से लकड़ी मारी

बहुत से फल नीचे आकर गिरे। वृक्ष से फल तो गिर गये मगर लकड़ी नीचे गिर कर राजा को लगी। बेर और लकड़ी लगने से राजा की नींद खुल गई। राजा उठ बैठा।

पथिक अभी तक वृक्ष के ऊपरी भाग को ही देख रहा था। फल गिरने के समय उसने देखा कि मेरी लकड़ी राजा को लग गई है। पथिक भय के मारे कांपने लगा। उसने कहा—महाराज, क्षमा कीजिए। मैंने आपको नहीं, वृक्ष को लकड़ी मारी थी। भूल से आपको भी लग गई। मैं भूख से व्याकुल था। इसी कारण बेर खाना चाहता था। आपके उपर मेरी निगाह नहीं पड़ी।

इतने में पुलिस आ धमके। वे बात को घटाने क्यों लगे? खैर ख्वाही जताने के लिए उन्हों ने बवंडर खड़ा कर दिया। वे उसे पकड़ने के लिए झपटे। पथिक भागा। राजा ने कहा—इसे मारो मत। पकड़ कर मेरे पास ले आओ। राजा ने पथिक से भी कहा—भाई, तू डर मत। तू मेरा परिचित है। आखिर पथिक विवश था। भाग कर भी पकड़ में आता ही। यह सोचकर उसने कहा—अच्छा, चलो, मैं राजा के पास चलता हूं।

सिपाहियों के साथ पथिक राजा के पास गया। उसने विनय करते हुए कहा—हुजूर! आप मारना चाहें तो भले मारिये मगर मैंने आपको जान बूझ कर लकड़ी नहीं मारी।

से कोमल होता है, उसे प्रकृतिमृदु कहते हैं । मतलब होने पर मृदुता प्रकट करना और मतलब निकल जाने पर अपना असली रूप प्रकट करना मृदुता नहीं है। यह मायाचार है प्रकृति की मृदुता का उदाहरण श्रीकृष्ण के चरित्र में भी दिखाई पड़ता है। जरा-जीर्ण बूढ़े की ईंट उठाना उनका प्राकृतिक मृदुता का प्रमाण है!

रोह अनगार प्रकृति से भद्र और मृदु थे, अतएव प्रकृति से विनीत भी थे। जो प्रकृति से भद्र और मृदु होगा वही विनयी भी होगा। इन में आपस में कार्य कारण भाव संबन्ध है। विनय कार्य है और भद्रता एवं मृदुता उसका कारण है।

विनयति-निराकरोति अष्ट प्रकारं कर्म, इति विनयः। अर्थात् जिसके द्वारा आठ प्रकार के कर्म दूर किये जाते हैं, उसे विनय कहते हैं। जैसे कोमल मिट्टी या राख बर्तन को साफ कर देती है, उसी प्रकार विनय आत्मा को निर्मल बना देती है शास्त्र में कहा है।

धम्मस्स विणओ मूलं

अर्थात्—धर्म का मूल विनय है—

अन्य लोग कर्म नाश का कारण भक्ति मानते हैं, परन्तु जैन धर्म विनय को कर्मनाश का कारण कहता है।

विनीत - नम्र होना प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है। कई लोग सोचते हैं-- नम्र रहने से पर कद्र नहीं होती, मगर यह भ्रम है। स्वार्थ-साधन के लिए दीनता या नम्रता दिखलाना दूसरी बात है, मगर निःस्वार्थ भाव से नम्र होने पर कदापि बेकद्री नहीं हो सकती।

रोह अनगार के क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय पतले पड़ गये थे अगर उनके क्रोध आदि का सर्वथा क्षय हो गया होता, तब तो वे भगवान् से प्रश्न ही न करते अर्थात् वे स्वयं सर्वज्ञ, सर्वदर्शी परमात्मा बन जाते। अतः क्रोध आदि उनमें विद्यमान तो था, मगर उसे वे सफल नहीं होने देते थे; और वह बहुत हल्का पड़ गया था।

रोह अनगार ने 'अहं' प्रकृति पर भी विजय प्राप्त कर ली थी। संसार में जहाँ देखो, अहंकार का झगड़ा चल रहा है। अहंकार से हा हा कार मचा रहता है। न जाने कितने संहार अहंकार के कारण हो रहा है! लेकिन हे जीव जिसके लिये 'मैं' कहता है, उससे कभी नहीं पूछता कि यह मेरे 'मैं' का समर्थन करता है या नहीं? अगर यह समर्थन नहीं करता तो तू उसके लिये क्यों 'मैं-मैं' कर रहा है? तू शरीर को अपना कहता है, मगर कभी तूने यह भी पूछा है कि यह मुझे अपना समझता है या नहीं? लेकिन यह नहीं कहता फिर भी तू व्यर्थ इसे अपना मान बैठा है! इस

प्रकार के विचार से अहंकार और ममकार छूट जाते हैं और आत्मा में अपूर्व शान्ति का प्रादुर्भाव होता है ।

रोह अनगार ने अहंकार को जीत लिया था। गुरु का उपदेश पाकर उन्होंने अहंकार को गला दिया था। वास्तव में सच्चा साधु वही है, जो अहंकार को जीत ले।

रोह अनगार प्रकृति से ही अलीन थे। अलीन का अर्थ है। गुरु समाश्रित। अर्थात गुरु का उन्होंने पूर्णरूपेण आश्रय लिया था। वे गुरु पर निर्भर थे। सब प्रकार से गुरु की सेवा भी करते थे।

सब धर्मशास्त्र कहते हैं कि महात्माओं की सेवा से ही तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति होती है। पुस्तकें उस ज्ञान की झांकी भी नहीं दिखा सकतीं। ऊपर गीता का उदाहरण देकर भी यही बात बतलाई गई है।

कई लोगों को शंका-समाधान करने में झिझक होती है और कई-एक को पूछने की इच्छा ही नहीं होती। अनेक लोग समझते हैं कि हमने पुस्तकें पढ़ ली हैं, धर्म-अधर्म आदि सब ढोंग है। हम इस ढोंग में क्यों पड़ें? इस प्रकार विभिन्न विचारों से प्रेरित होकर लोग प्रश्न नहीं करते कुछ शायद ऐसे भी होंगे जो सोचते होंगे कि कहीं प्रश्न पूछने से गुरुजी गुस्सा हो गये तो क्या होगा! कुछ लोग अभिमान से प्रश्न

नहीं पूछते और कुछ अज्ञान से। मगर वास्तव में देखा जाय तो यह सब कल्पनाएँ मानसिक दुर्बलता का परिणाम हैं। प्रश्न करने में, लाभ के सिवा हानि कुछ भी नहीं है। अगर कोई अपने भीतर के ज्ञान के खजाने को लुटाना चाहता है तो लूटने में तुम्हारी हानि ही क्या है? तुम्हें अनायास ही जो निधि प्राप्त हो सकती है, उसके लिए भी तुम नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प करते हो! यह तुम्हारे लिए दुर्भाग्य की बात नहीं तो क्या है? हाँ, प्रश्न करो, मगर उसमें उद्धतता नहीं, नम्रता हो, जिगीषा नहीं जिज्ञासा हो।

इस प्रकार अनेक गुणों से विभूषित आर्य रोह अनगार ऐसे स्थान पर बैठे थे, जो भगवान् से बहुत दूर नहीं था।

गुरु की दृष्टि में रहना कल्याणी भक्ति है। कहा जाता है कि कछुआ अपने अंडों को दृष्टि से पालता है। इसी प्रकार भक्त या शिष्य भी भगवान् या गुरु से इतनी ही दूर बैठता है, जहाँ भगवान् या गुरु की नजर पड़ती हो। गुरु की अमृतमयी दृष्टि से शिष्य को आनन्द रहता है। व्यवहार में कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति पर मेरी नजर है! दृष्टि में रहने से भी बहुत सी बुराइयाँ नष्ट होती हैं।

रोह अनगार भगवान् से अदूर और नातिसमीप में बैठे थे।

उनके दोनों घुटने ऊपर सिर नीचे था। अर्थात् वह ऐसे बैठे थे जैसे गौ दुहने के समय गुवाल बैठता है।

गोदुहासन से बैठे हुए अनगार रोह ध्यान के कोठे में तल्लीन हो रहे हैं और तत्त्व-विचार करके ज्ञान का अमृतपान कर रहे हैं।

रोह अनगार तप और संयम में विचरते थे। संयम, जीवन की दिव्य मात्रा है। जिस आत्मा को यह प्राप्त हो, उसका प्रभाव अपूर्व और अद्भुत हो जाता है। संयम, तप के विना निभ नहीं सकता। संयम और तप आत्मा को मोक्ष पहुँचाने वाले रथ के दो पहिया हैं। अथवा यों कहिए कि यह दोनों धर्म-रथ के दो पहिया हैं।

रोह अनगार जब ध्यान के कोठे में तल्लीन होते हुए तप संयम में विचरते थे, उस समय वे जात संशय हुए। जात संशय आदि पदों की व्याख्या प्रथम उद्देशक के प्रारंभ में की जा चुकी है। वही व्याख्या यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

रोह अनगार के मन में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि पहले लोक है या पहले अलोक है? अथवा इन दोनों में कौन पहले और कौन पीछे है? इस प्रकार का प्रश्न उत्पन्न होने पर रोह अपने स्थान से उठे और भगवान् महावीर के निकट उपस्थित हुए। उन्होंने तीन बार भगवान् की प्रदक्षिणा की और नमस्कार किया।

वन्दना-नमस्कार करके रोह अनगार ने भगवान् से पूछा-भगवन् ! मैंने आप से लोक और अलोक दो पदार्थ सुने हैं परंतु मैं यह जानना चाहता हूँ कि पहले लोक है या अलोक ? पहले लोक बना है या अलोक बना है ?

जैसे 'आत्मा' शब्द असमस्त (समास-रहित) है और 'अनात्मा' शब्द उसके निषेध से बना है, इसी प्रकार 'लोक' भी असमस्त पद है और 'अलोक' उसके निषेध से बना है। समास वाले पद के वाच्य पदार्थ में संदेह भी हो सकता है, परन्तु असमस्त पद का वाच्य पदार्थ अवश्य होता है। उसमें संदेह के लिए अवकाश नहीं है। ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि समास—रहित कोई पद हो, मगर उसका अर्थ न हो।

अगर लोक और अलोक में से किसी भी एक को पहले उत्पन्न हुआ माना जाय तो दोनों की आदि होगी। तो क्या यह दोनों आदि हैं ? इन्हें किसी ने बनाया है।

रोह के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—हे रोह ! लोक और अलोक पहले भी हैं और पश्चात् भी हैं। इन दोनों में पूर्व-पश्चात् का क्रम नहीं है। जैसे गाय के दो सींगों में और मनुष्य के दो नेत्रों में पहले-पीछे का कोई क्रम नहीं है, उसी प्रकार लोक और अलोक में भी पूर्व-पश्चात् की कल्पना नहीं

हो सकती। यह दोनों शाश्वत हैं। अगर किसी के द्वारा यह बनाये गये होते तो इनमें किसी प्रकार का क्रम संभव होता; मगर यह बने नहीं हैं। अतएव इनमें आनुपूर्वी (क्रम) नहीं है। जैसे 'दाहिनी आँख' कहने पर बाईं आँख भी अपने स्थान पर ही रहती है, मगर दो शब्दों का उच्चारण एक साथ नहीं हो सकता, इसलिये किसी एक को पहले और दूसरी को पश्चात् कहते हैं, परंतु आँखों में वस्तुतः आगे-पीछे का कोई भेद नहीं है। यही बात लोक और अलोक के विषय में भी समझनी चाहिये।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि रोह मुनि ने पहले लोक-अलोक के विषय में ही क्यों प्रश्न किया है? असल में क्षेत्र आधार है। आत्मा का संबंध क्षेत्र से है। कोई कहीं भी जाए, पहले यही पूछा जायगा कि—आप कहाँ रहते हैं? इसके पश्चात् ही अन्य बातें पूछी जाती हैं। तदनुसार रोह ने भी सर्वप्रथम लोक अलोक के विषय में प्रश्न किया है।

लोक और अलोक में यही अन्तर है कि लोक में पंचास्तिकाय हैं और अलोक में केवल आकाश ही है। लोक में जितनी भी वस्तुएं हैं, जीव और अजीव में सब का समावेश हो जाता है।

तत्पश्चात् आर्य रोह पूछते हैं—भगवन्! पहले जीव हैं या अजीव?

किसी-किसी का कथन है कि जीव, जड़ से उत्पन्न हुआ है। पंच भूतों के मेल से जीव उत्पन्न हो जाता है। लेकिन ऐसा मानने से जीव की आदि ठहरती है और यह भी मानना पड़ता है कि पहले जड़ और बाद में जीव बना है।

किसी का मन्तव्य यह है कि—ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी कोई भी सत्ता नहीं है। सारे जगत् में एक ही वस्तु है—ब्रह्म, और कुछ भी नहीं है—'एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति'।

इस प्रकार जीव और अजीव के विषय में नाना मतभेद होने के कारण रोह ने प्रश्न किया—भगवन्! इस विषय में आप क्या कहते हैं? रोह के प्रश्न का भगवान् ने उत्तर दिया—हे रोह! ऐसा प्रश्न ही नहीं हो सकता, क्योंकि जीव और अजीव-दोनों ही शाश्वत भाव हैं। लोक—अलोक के विषय में जो उत्तर दिया गया है, वही उत्तर यहां समझ लेना चाहिए।

आचार्य कहते हैं—मैं अपने ज्ञान में प्रकाश देख रहा हूं, अतएव तुम्हारी श्रद्धा भी इस तत्त्व को आंशिक रूप में प्रकट कर सके, इसी अभिप्राय से कुछ और समझाता हूं।

अगर यह प्रश्न किया जाय कि जड़ पहले और चेतन बाद में हुआ, तो चेतन आकस्मिक और असत्कार्य ठहरेगा। अगर कोई जड़ को अनादि और सादि भी कहे तो वह अपना

मिथ्या है जीव उत्पत्ति तर्क से संगत नहीं है। युक्ति इसे सिद्ध नहीं कर सकती है।

प्रत्येक प्राणी को 'अहं प्रत्यय' अर्थात 'मैं' ऐसा ज्ञान होता है; यह बात स्वतः सिद्ध है। अब प्रश्न यह है कि 'मैं' कहने वाला और 'मैं' को जानने वाला कौन है? लोक में यह भी कहा जाता है—'मेरा शरीर।' अर्थात् मैं शरीर नहीं मेरा शरीर। यहां शरीर को अपना कहने वाला कौन है? क्या यह भी संभव है कि शरीर तो हो मगर शरीर को अपना बतलाने वाला कोई न हो? 'मेरा शरीर' यह कथन शरीर और शरीरी को अलग-अलग बतला रहा है। जैसे 'मेरा घर' इस कथन से घर अलग और घर वाला अलग, मालूम होता है, इसी प्रकार 'मेरा शरीर' इस कथन से भी शरीर और शरीर का मालिक अलग-अलग ही प्रतीत होता है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण को न मानना और तर्क का असत्य सहारा लेना कहां तक ठीक हो सकता है।

अगर यह कहा जाय कि चैतन्य में अनन्त शक्ति है, इस लिए इसे ब्रह्म मानकर, ब्रह्म से जड़ की उत्पत्ति मान ली जाय तो क्या हानि है? इसका उत्तर यह है कि अगर यह मान लिया जाय कि पहले जीव था और फिर उससे जड़ बना तो इसका मतलब यह हुआ कि जीव ही जड़ हो गया। मिट्टी से घड़ा बनता है, इसका अर्थ यह है कि मिट्टी ही घड़ा रूप हो जाती है। इसी

एक बादशाह ने अपने पांच नोकरों को भिन्न-भिन्न काम बतलाया। नौकरों ने बादशाह के आदेशानुसार काम कर दिया। जब वे काम करके बादशाह के पास आये, तब बादशाह को क्या करना चाहिये? क्या बादशाह एक को कारागार और दूसरे को पुरस्कार दे? क्या वह एक का सत्कार और दूसरे का तिरस्कार करे? अगर बादशाह ऐसा करता है तो कौन निष्पक्ष विचारक यह नहीं कहेगा कि बादशाह अन्यायी है। पहले तो आज्ञा देकर काम करवाता है, फिर उसके लिए दंड देता है! अगर बादशाह ने उन्हें स्वेच्छानुसार काम करने के लिए रक्खा होता और उन्हें काम करने की स्वतन्त्रता दी होती, और तब उनके कामों की जांच करके निग्रह-अनुग्रह किया होता, तब तो पाँच काम करने वालों में से किसी को दंड और किसी को पुरस्कार देना उचित भी कहा जा सकता था। किन्तु स्वयं काम करवा कर किसी को दंड और किसी को पुरस्कार देना किस प्रकार न्यायसंगत हो सकता है? इसी प्रकार जीव अगर स्वेच्छापूर्वक काम करने वाला होता, तब तो अपने अपने काम के अनुसार भिन्न-भिन्न फल भोगना उचित कहलाता परन्तु लोग तो यह कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा और आज्ञा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता! अगर ऐसा है और सभी जीव जो कुछ भी करते हैं, वह ईश्वर की ही प्रेरणा से करते हैं, और फल देने वाला भी ईश्वर ही है, तो फिर ईश्वर को उसी की प्रेरणा से किये हुए काम का क्या फल देना चाहिए? वह फल

हुआ तो नहीं ही होना चाहिए। यदि सब को समान फल मिलता तो कदाचित यह जाना जाता कि जीव जो कुछ करता है, वह सब एक ईश्वर की आज्ञा और इच्छा के अनुसार ही करता है। लेकिन फल में बहुत विचित्रता देखी जाती है, अतएव यह कैसे माना जा सकता है।

व्याकरण में कर्त्ता को स्वतन्त्र माना गया है। पाणिनि कहते हैं—'स्वतन्त्रः कर्त्ता।' कारक का विचार करने में मुख्यतया कर्त्ता, कर्म और क्रिया का विचार होता है। व्याकरण में कहा गया है कि कर्त्ता वह है जो स्वतन्त्र होकर क्रिया करने वाला हो-स्वेच्छा से क्रिया करे। अगर जीव से ईश्वर ही क्रिया करवाता है तो जीव कर्त्ता कैसे ठहर सकता है? क्योंकि वह तो ईश्वराधीन है। ऐसी हालत में क्रिया का दंड या पुरस्कार जीव को क्यों मिलना चाहिए?

अब आप यह कह सकते हैं कि जब कोई भी वस्तु कर्त्ता के बिना नहीं होती, तो फिर संसार का भी कोई न कोई कर्त्ता अवश्य होना चाहिए। क्या जैन शास्त्र का यह मन्तव्य है कि संसार बिना कर्त्ता के ही बन गया है? इसका उत्तर यह है कि जैनधर्म कर्त्ता मानता है और आत्मा को स्वतंत्र कर्त्ता मानता है। [illegible] कुछ [illegible] देकर [illegible] सोचेंगे, यह प्रश्न किसी के लिये है। अगर किसी के लिये है, तो उसका यह उत्तर है—

आत्मा ने लिखे हैं। कोई यह कह सकता है कि कलम से लिखे गये हैं। लेकिन प्रश्न लिखने वाले का है। कलम स्वयं नहीं लिख सकती। और दूसरी बात यह भी है कि कलम को बनाने वाला कौन है? कलम आखिर आत्मा ने ही तो बनाई है! अब बरु के कलमों का चलन नहीं रहा, होल्डरों का चलन हो गया है। होल्डर कारीगर ने बनाया है, मगर उसका लोहा किसने बनाया है? एक कहता है—लोहा ईश्वर ने बनाया, मगर वास्तव में लोहा बनाने वाला भी आत्मा है। लोहा खदान में था। खदान में पृथ्वीकाय के जीव थे। उन्हों ने लोहा बनाया और वह लोहा कारीगर के हाथ में गया। इस प्रकार लोहा भी आत्मा ने ही बनाया है।

जैन धर्म पृथ्वी में भी आत्मा मानता है। पृथ्वी स्वयं आत्मा नहीं है, किन्तु पृथ्वी रूप शरीर धारण करने वाला जीव-आत्मा है। यह आत्मा स्वतंत्र रूप से पुद्गलों को अपने में खींचता है। जैसे आत्मा ही दूध पीता है और आत्मा ही उसे खल-भाग एवं रसभाग आदि में परिणत करता है, फिर भी कई लोग यह काम भी ईश्वर का बतलाते हैं, इसी प्रकार लोहा भी आत्मा ने बनाया है, किन्तु लोग उसे ईश्वर का बनाया हुआ मानते हैं। ईश्वर के ऊपर किसी प्रकार की जवाबदारी डालना, अपनी जवाबदारी से छूटने का प्रयत्न करना है। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वर पर एक बात का आरोप करने से अनेक आरोप करने पड़ेंगे।

कई लोगों का ऐसा कथन है कि जीव कर्म करने में तो स्वतंत्र है, मगर फल ईश्वर देता है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अगर एक आदमी ने चोरी की या दुराचार किया तो उस ने यह नया कर्म किया है या पुराने कर्म का फल भोगा है? अगर यह माना जाय कि नया कर्म किया है तो जिसका धन या शील गया, उसके लिए तो प्राचीन कर्म का फल-भोग ही हुआ? अगर ऐसा न माना जाय तो प्राचीन कर्म का फल ही नहीं होगा। अगर यह कहा जाय कि चोरी या व्यभिचार करने का कार्य ईश्वर ने प्राचीन कर्मों के फल का भोग कराने के लिए करवाया है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर ने चोरी या व्यभिचार का कार्य करवाया है। गीता में कहा है—

> न कर्तृत्वं न कर्माणि, न लोकस्य सृजति प्रभुः।
> न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

वास्तव में ईश्वर कर्त्ता नहीं है और न कर्म का फल देने वाला है। यह सब स्वभाव से होता है।

इस प्रकार न जड़ से चेतन की और न चेतन से जड़ की उत्पत्ति होती है। इसी कारण रोह अनगार ने भगवान् से प्रश्न किया है—भगवन्! आदि इन में क्या पौर्वापर्य भी [illegible] है?

इस विषय का विस्तृत विवेचन न्यायग्रन्थों में किया गया है। शास्त्रकार उसका मूल तत्त्व ही प्रकट करते हैं।

रोह के प्रश्न का भगवान् ने उत्तर फर्माया-हे रोह! यह नहीं कहा जा सकता कि जीव से अजीव की या अजीव से जीव की उत्पत्ति हुई है। यह दोनों ही पदार्थ अनादि हैं।

वैज्ञानिक कहते हैं—हमारी दृष्टि अपूर्ण है, इसी कारण हम किसी वस्तु का नाश होना कहते हैं, परन्तु वास्तविक रूपसे देखा जाय तो कोई भी वस्तु नष्ट नहीं होती। केवल उसकी अवस्थाएँ पलटती हैं। जली हुई मोमबत्ती के विषय में यह समझा जाता है कि वह नष्ट हो गई, परन्तु मोमबत्ती वस्तुतः नष्ट नहीं होती, सिर्फ उस की शक्ल बदलती है। उसका संग्रह बिखर जाता है। सुना जाता कि वैज्ञानिकों ने ऐसे आकर्षक यंत्र बनाये हैं, जिन्हें जलती हुई मोमबत्ती के इधर-उधर रख देने से, जली हुई मोमबत्ती के परमाणु उन यंत्रों में खिंच कर आ जाते हैं, और अगर उन्हें फिर मिला दिया जाय तो ज्यों की त्यों मोमबत्ती तैयार हो जाती है।

जल के विषय में भी यही बात है। साधारणतया यह समझा जाता है कि ज़मीन पर गिरा हुआ जल सूख कर नष्ट हो जाता है, परन्तु विज्ञानवेत्ता कहते हैं कि वह नष्ट नहीं हुआ है, किन्तु वे [illegible] वायु में, और [illegible] गई है। [illegible]

यदि पूरी तरह पता लगाया जाय तो ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की सत्ता भी अवश्य प्रतीत होगी। इस संबंध में भी न्यायशास्त्र में विस्तृत विवेचना की गई है। विशेष जिज्ञासुओं को वहाँ देखना चाहिए।

गीता में अश्वत्थ वृक्ष का आकार वैसा ही बतलाया है, जैसा जैन शास्त्रों में लोक का आकार–पुरुषाकार–है। अश्वत्थ वृक्ष का आकार देते हुए गीता में कहा है—

अधश्चोऊर्ध्वं प्रसृतास्तस्य,

न रूपमस्येह

हे अर्जुन! यदि मुझ से संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष का रूप पूछो तो न इस वृक्ष की आदि है, न अन्त है अर्थात् वह अनादि है।

गीता भी संसार को अनादि कहती है और भगवतीसूत्र भी अनादि कहता है, आधुनिक वैज्ञानिक भी यही कहते हैं। नास्तिक आत्मा का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते, लेकिन कौन कह सकता है कि आगे चल कर आधुनिक विज्ञान ही आत्मा का अस्तित्व साबित नहीं करेगा? और आज भी आत्मा प्रमाणों से सिद्ध है।

आज का दिन वर्त्तमान कहलाता है, गया दिन भूतकाल कहलाता है और आगामी दिन भविष्य काल कहलाता है। यद्यपि गया दिन, आज भूतकाल है, मगर वह वर्त्तमान में होकर ही गया है। जब प्रत्येक भूतकाल, एक दिन वर्त्तमान था, तो भूतकाल की आदि होनी चाहिए। अगर भूतकाल की आदि नहीं है तो क्या यह कहा जा सकता है कि भूतकाल, कभी वर्त्तमान रूप में आया ही नहीं? वह वर्त्तमान हुए विना ही सीधा भूतकाल हो गया? लेकिन यह सभी को मालूम है कि कल का दिन वर्त्तमान में था। इसी प्रकार वर्ष और सैकड़ों वर्ष वर्त्तमान में आकर के ही भूतकाल बने हैं। इसी प्रकार भविष्य काल में से निकल कर कुछ अंश वर्त्तमान होता जा रहा है और फिर वह वर्त्तमान, भूतकाल बनता जाता है, फिर भी भविष्य काल का कहीं अन्त नहीं है। वह ज्यों का त्यों अनन्त है। भविष्य की तरह भूतकाल भी अनन्त है। भूतकाल और भविष्यकाल-दोनों बराबर कहे गये हैं। जैसे हाथी दांत की बनी हुई बिना जोड़ की चूड़ी का मध्य, जहाँ उंगली रक्खो वहीं है। इसी प्रकार अगर वर्त्तमान को भूत में मिला लो तो भूतकाल और अगर उसे भविष्य में मिला लो तो भविष्यकाल भले ही बढ़ जाय. अन्यथा भूत और भविष्य-दोनों बराबर हैं और दोनों ही अनन्त हैं। इसी प्रकार सिद्धि और संसार दोनों ही साथ हैं और दोनों ही अनादि हैं।

है। इसी प्रकार जीव संसार से ही मुक्त होते हैं, मगर अनन्त होने के कारण संसार कभी जीव-शून्य नहीं हो सकता।

यद्यपि रोह अनगार ने पहले भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक का प्रश्न किया है और बाद में सिद्धि तथा संसार का तथापि पहले सिद्धि और संसार संबंधी प्रश्नोत्तर का व्याख्यान किया गया है, जिससे भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक का प्रश्नोत्तर सरलता से समझा जा सके।

रोह अनगार ने प्रश्न किया—भगवन्! पहले भवसिद्धिक है या अभवसिद्धिक है?

जिसमें जो कार्य करने की क्षमता है—योग्यता है, वह उस कार्य के लिए भव्य कहलाता है। उदाहरणार्थ—कुंभार मिट्टी से घड़ा बनाता है, परन्तु जिस मिट्टी से घट बन सकता है वही मिट्टी घट के लिए भव्य है, और जिसमें घट बनने की शक्ति नहीं है, वह घट के लिए अभव्य है।

किसी आदमी को अग्नि की आवश्यकता है। वह सोचता है—लकड़ी में अग्नि है। मगर कोई लकड़ी आग के लिए भव्य है, कोई अभव्य है। क्योंकि, जिस लकड़ी को घिसने से आग उत्पन्न होती है, वह आग के लिए भव्य है, और जिसे घिसने पर भी आग नहीं उत्पन्न होती, वह लकड़ी आग के लिए अभव्य

लोक में सिद्धि सिर पर है और संसार नीचे है। इसलिए शरीर में जैसे पाँव और सिर साथ बने हैं, इन दोनों में पहले-पीछे का भेद नहीं है, इसी शाश्वत सिद्धि और असिद्धि में भी पहले-पीछे का भेद नहीं है, जैसे सिद्धि-असिद्धि में क्रम नहीं है, उसी प्रकार सिद्धि के योग्य भव्य और सिद्धि के अयोग्य अभव्यों में भी क्रम नहीं है। इन में भी कोई आगे-पीछे नहीं है।

अब रोह अनगार प्रश्न करते हैं—भगवन्! पहले सिद्ध हैं या असिद्ध हैं?

साधारण विचार से ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्ध भगवान् संसार से मुक्त होकर ही सिद्धि लाभ करते हैं, अतः पहले असिद्ध और फिर सिद्ध होने चाहिए; परन्तु वास्तविक बात यह नहीं है। सप्रवाहतः सिद्ध और असिद्ध दोनों ही अनादि हैं। जैसे यद्यपि भविष्यकाल, वर्त्तमान होकर ही भूतकाल होता है, इसलिए पहले वर्तमान काल और पीछे भूतकाल होना चाहिए, मगर ऐसा नहीं है। तीनों ही काल प्रवाहतः अनादि और अनन्त हैं। वेदान्त ने भी, जहाँ तक निर्णय हुए हैं, संसार को अनादि माना है। गीता संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष को अनादि कहती है।

लोक-अलोक, जीव-अजीव, सिद्धि-असिद्धि, आदि का हाल चाल आँखों से प्रत्यक्ष में नहीं दिखाई देता, इसलिए रोह अनगार अब एक ऐसा प्रश्न करते हैं, जो सर्वसाधारण के

अब रोह अनगार सारे लोक का हिसाब भगवन् से पूछते हैं। वे एक को प्रमाण मानकर, दूसरे को प्रमेय बनाते हैं। रोह पूछते हैं—भगवन् ! पहले लोक का अन्त (किनारा) है, या अलोक का अन्त है ? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा—हे रोह ! इन दोनों में किसी प्रकार का क्रम नहीं है। क्रम तब होता, जब दो में से एक पहले बना होता और दूसरा पीछे बना होता। यह दोनों ही शाश्वत हैं, अतएव इनमें क्रम नहीं है।

लोक के सात अवकाशान्तर माने गये हैं। अतएव रोह पूछते हैं—भगवन् ! पहले लोकान्त है या पहले सातवाँ अवकाशान्तर है ?

यह लोक और अवकाशान्तर का प्रश्न है। इसी प्रकार सात तनुवात, सात घनवात, सात घनोदधि और सात पृथ्वी संबंधी प्रश्न हैं। इन सब में सम्पूर्ण संसार का समावेश हो जाता है।

भगवान् उत्तर देते हैं हे रोह ! इनमें आगे पीछे का कोई क्रम नहीं है। यह सब शाश्वत भाव हैं।

इसी प्रकार सातों अवकाशान्तर, सातों तनुवात, सातों घनवात सातों घनोदधि, सातों पृथ्वी, द्वीप, सागर, वर्ष—क्षेत्र, नारकी आदि, जीव, अस्तिकाय, समय, कर्म, लेश्या, दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, संज्ञा, शरीर, योग, उपयोग, द्रव्यप्रदेश, पर्याय तथा काल के परस्पर

समझ लेने चाहिए। अर्थात् इन सब को लोकान्त के साथ जोड़-जोड़ कर प्रश्न करना चाहिए कि पहले लोकान्त है या तनुवात है ? इत्यादि। इन सब के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—यह सब शाश्वत भाव हैं। इनमें आगे-पीछे का क्रम नहीं है। यह प्रश्न इस प्रकार भी किये जा सकते हैं:—

रोह ने पूछा—भगवन् ! पहले द्वीप है या पहले सागर है ? इसके उत्तर में भी भगवान् ने फर्माया—हे रोह ! यह दोनों अनादि हैं।

रोह आगे पूछते हैं—नरक के भीतर नर का वास है, सो पहले नरक है या नरका वास है ? इसका उत्तर भगवान् ने दिया—यह दोनों शाश्वत हैं।

अगर कोई यह पूछे कि पहले नगर बना या नगर के गृह बने ? तो किसे पहले और किसे पीछे बतलाया जा सकता है ? इसी सूत्र में एक प्रश्न किया गया है कि राजगृह नगर किसे कहते हैं ? इसका उत्तर भगवान् ने यह दिया है कि—जीव, अजीव, पृथ्वी, पानी आदि सब मिलकर राजगृह नगर कहलाते हैं।

अब रोह पूछते हैं—भगवन् ! पहले [illegible] के जीव हैं, या [illegible] जीव हैं, या [illegible] हैं [illegible] हुए हैं ?

इस विषय में विभिन्न दर्शनकार अनेक कल्पनाएँ करते हैं, मगर अंत में सभी को अनादि पर ही आना पड़ता है। कई कहते हैं—अंडे का एक भाग ऊपर गया तो ऊँचा लोक हो गया और एक भाग नीचे गया तो उससे नीचा लोक हो गया। लेकिन उनसे जब यह पूछा जाता है कि अंडा कहां से आया ? तब वे गड़बड़ में पड़ जाते हैं। अतएव किसी भी गति के जीवों को पहले या पीछे नहीं कह सकते। सभी जीव अनादि हैं। अगर नरक की आदि खोजने चलेंगे तो समय की भी आदि खोजनी पड़ेगी। फिर कर्म की भी आदि ढूँढनी होगी कि पहले देव के कर्म हैं, मनुष्य के कर्म हैं, या नारकी आदि के कर्म हैं ? लेकिन कर्म-सामान्य अनादि है, इसी प्रकार यह कर्म-विशेष भी अनादि है।

कर्म बिना लेश्या के नहीं होते। योग और कषाय का एकीभाव लेश्या कहलाता है। कषाय के साथ जब तक मन, वचन और काय के योग नहीं मिलते, तब तक वह कषाय है, जब योग और कषाय मिल जाते हैं, तब कषाय ही लेश्या का रूप धारण कर लेता है। जैसे-जैसे लेश्या की शुद्धि होती जाती है, कर्मों की न्यूनता होती जाती है।

गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—भगवन् ! पहले लोक है या पहले

लेश्या है ? भगवान् ने फर्माया—हे रोह ! यह दोनों भी अनादि हैं, अतएव इनमें पहले-पीछे का क्रम नहीं है।

इससे आगे दर्शन और ज्ञान संबंधी प्रश्न है। वस्तु के सामान्य धर्म को जानना दर्शन है और विशेष धर्मों का बोध होना ज्ञान कहलाता है। रोह ने पूछा—भगवन्! पहले दर्शन है या ज्ञान है ? भगवान् ने उत्तर दिया—रोह ! दोनों भाव अनादि हैं। इसी प्रकार लोकान्त के साथ भी इनके प्रश्नोत्तर समझने चाहिए।

तदनन्तर संज्ञा का प्रश्न है। संज्ञा, ज्ञान को भी कहते हैं, मगर यहाँ मोहजन्य तृष्णा का अर्थ अपेक्षित है। अमुक धन चाहना धनसंज्ञा है, स्त्री की चाह होना स्त्री संज्ञा है, आहार की तृष्णा होना आहार संज्ञा है।

रोह पूछते हैं—भगवन्! पहले शरीर है या संज्ञा है ? भगवान् फर्माते हैं—दोनों ही अनादि हैं।

इसी प्रकार योग और उपयोग का प्रश्न है। योग पहले है या उपयोग पहले है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने दोनों को अनादि बतलाया है और क्रम का निषेध किया है।

[illegible] दर्शन ज्ञान, अज्ञान और ज्ञान के [illegible] हैं। [illegible] है और आत्मा का [illegible]

रोह प्रश्न करते हैं—भगवन् ! अभिमान पहले है या योग पहले है ? भगवान उत्तर देते हैं—दोनों ही अनादि हैं।

इन सब को लोकान्त के साथ मिलाकर तथा अलोकान्त के साथ मिलाकर प्रश्न करना। यहां पिछला–पिछला छोड़ते जाना और आगे–आगे का बोलते जाना चाहिए।

भगवान् से अपने प्रश्नों का उत्तर सुनकर रोह अणगार ने 'सेवं भंते ! सेवं भंते !' कहा और तप–संयम में विचरने लगे।

काच में कोई पदार्थ पूर्णरूपेण नजर नहीं आता। केवल पदार्थ की परछाई भर दिखाई देती है। फिर भी फोटो खींचने का प्रयत्न क्यों किया जाता है ? फोटो में स्थूल प्रतिबिम्ब ही आता है, पदार्थ के गुण-दोष नहीं उतरते। फिर भी फोटो उतारने का प्रयास करने का प्रयोजन यह है कि, इससे प्रथम तो कैमरे की शक्ति का विकास होता है, दूसरे ज्ञानियों के लिये छोटी वस्तु भी बड़ा काम देती है। ज्ञानी अपूर्ण अंशको देखकर भी पूर्ण का पता लगा लेते हैं। रोह ने स्वयं कैमरा बनकर भगवान महावीर के अनन्त ज्ञान का फोटो उतारने का प्रयास किया है। कैमरे का जितना परिमाण होता है, उसी परिमाण में फोटो भी बड़ा या छोटा उतरता है। लेकिन फोटो भले ही छोटा हो, उसमें पदार्थ की आकृति आ जाती है और उस फोटो से पूर्ण स्थूल पदार्थ का पता लगाया जा सकता है। इसी प्रकार रोह के प्रश्नों

और ईश्वर की महत्ता प्रदर्शित करने के लिये ऐसा कहना दूसरी बात है। जैसे कोई विनीत पुत्र आप धन कमाता है, मगर उसे माता-पिता का ही प्रताप कहता है। जैसे-यह आपकी ही कमाई है। आपके ही प्रताप से इसकी प्राप्ति हुई है। इसी प्रकार ईश्वर की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए ही अगर उसे कर्त्ता कहा जाय तो बात दूसरी है, लेकिन जैसे कुंभार घड़ा बनाता है, उसी प्रकार ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानना उपहास्यास्पद है ऐसा मानने से ईश्वर में अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। साथ ही यह भी मानना पड़ता है कि पहले ईश्वर है, फिर संसार है।

होशियार कुँभार वही माना जाता है, जिसके बनाये हुए सभी बर्तन सुन्दर और सुडौल हों, मगर ईश्वर की रचना ऐसी नहीं है। कोई मनुष्य बदसूरत है, कोई लूला है, कोई लंगड़ा है कोई बहिरा है, कोई अंधा है, कोई दरिद्र है, कोई अल्पायुष्क है। अगर यह कहा जाय कि जैसा जिसका कर्म था, वैसा उसे फल मिल गया तो ठीक नहीं, क्योंकि पहले अकेला ईश्वर ही था, कर्म नहीं थे। जब जीवों के कर्म नहीं थे, तो किसका फल उन्हें मिला? अतएव या तो ईश्वर को अकुशल मानना पड़ेगा या संसार को अनादि मानना पड़ेगा।

सारांश यह है कि शून्यवाद और ईश्वरकर्तृत्ववाद आदि का निराकरण करने के लिए रोह ने भगवान् से विस्तार के साथ प्रश्न पूछे हैं। इन प्रश्नोत्तरों द्वारा यह प्रमाणित किया गया है

कि भौतिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों का संयोग अनादि कालीन है।

संसार के लोग कहते हैं—'आपस में लड़ाई' झगड़ा मत करो।' यह 'आपस' क्या है ? यह पूछा जाय तो उत्तर मिलेगा- जिनके साथ विवाह आदि कोई संबंध हुआ है, वह 'आपस' के कहलाते हैं। मगर ज्ञानी बतलाते हैं कि—हे जीव ! थोड़ी देर के लिए ही तू अपनी क्षुद्र बुद्धि को त्याग कर विचार कर। तू अनादिकाल से संसार में है। सब जीवों के साथ तेरा किसी न किसी प्रकार का संबंध हो चुका है। फिर उन्हें क्यों अपना संबंधी नहीं समझता ? काल का व्यवधान पड़ने से ही क्या संबंध टूट [illegible] ?

बड़े परिवार वाला कहता है—अगर मुझसे संबंध रखना है तो मेरे सभी परिवार वालों से संबंध रखना पड़ेगा। इसी प्रकार ईश्वर कहता है—अगर मुझसे संबंध रखना है तो संसार के सभी जीवों से सम्बन्ध रक्खो। अगर सब के साथ संबंध नहीं रख सकते तो फिर मुझसे भी नाता तोड़ना पड़ेगा !

इस प्रकार [illegible] और भगवान के प्रश्नोत्तरों में [illegible] हुए हैं। [illegible] के साथ ज्ञान आदि का [illegible] के साथ संबन्ध प्रकट किया है।

[illegible] के प्रश्नों के उत्तर, गौतम स्वामी [illegible]

लोक-स्थिति

मूल पाठ—प्रश्न-'भंते !' त्ति भगवं गोयमे समणं जाव-एवं वयासी कइविहाणं भंते ! लोयट्ठिती पन्नत्ता ?

उत्तर-गोयमा ! अट्ठविहा लोयट्ठिती पन्नत्ता । तंजहा-आगासपइट्ठिए वाए, वाय-पइट्ठिए उदही, उदहिपइट्ठिया पुढवी, पुढविपइ-ट्ठिया तसा, थावरा पाणा । अजीवा, जीव पइट्ठिया । जीवा कम्मपइट्ठिया । अजीवा जीवसंगहिया । जीवा कम्मसंगहिया ।

प्रश्न-से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ अट्ठविहा जाव-जीवा कम्मसंगहिया ?

उत्तर-गोयमा ! से जहाणामए केइ पुरिसे

वत्थिमाडोवेइ, वत्थिमाडोवेत्ता। उप्पिंसितं बंधइ बंधइत्ता मज्झेणं गंठिं बंधइ, बंधइत्ता उवरिल्लं गंठिं मुयइ मुइत्ता उवरिल्लं देसं वामेइ, उवरिल्लं देसं वामेत्ता, उवरिल्लं देसं आउयायस्स पूरेइ, पूरित्ता उप्पिं-सितं बंधइ, बंधित्ता मज्झिल्लगंठिं मुयइ, मुइत्ता, से णूणं गोयमा! से आउयाए आउयायस्स उप्पिं उवरिमतले चिट्ठइ?

'हंता चिट्ठइ।'

से तेणट्ठेणं जाव-जीवा कम्मसंगहिया।

से जहा वा केइ पुरिसे वत्थिं आडोवेइ, आडोवित्ता कडीए बंधइ, बंधित्ता, अत्थाह-मतार पोरुसियंसि उदगंसि ओगाहेज्जा। से णूणं गोयमा! से पुरिसे तस्स आउयायस्स उवरिम-तले चिट्ठइ?

हंता, चिट्ठइ ।

एवं वा अट्ठविहा लोयट्ठिई पन्नत्ता, जाव-जीवा कम्मसंगाहिया ।

संस्कृत–छाया

प्रश्न–'भगवन् !' इति भगवान् गौतमः श्रमणं यावत्-एवम् अवादीत्–कतिविधा भगवन् ! लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता ?

उत्तर–गौतम ! अष्टविधा लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता । तद्यथा-आकाशप्रतिष्ठितो वातः वातप्रतिष्ठित उदधिः, उदधिप्रतिष्ठिता पृथिवी, पृथिवीप्रतिष्ठितास्त्रसाः स्थावराः प्राणाः । अजीवा जीवप्रतिष्ठिताः । जीवाः कर्मप्रतिष्ठिताः । अजीवा जीवसंगृहीताः जीवाःकर्मसंगृहीताः ।

प्रश्न–तत् केनार्थेन भगवन् ! एवमुच्यते अष्टविधा यावत् जीवाः कर्मसंगृहीताः ?

उत्तर–गौतम ! तद् यथानामकः कश्चित् पुरुषो बस्तिमाटोपयति, बस्तिमाटोप्य उपरि सितं बध्नाति, बद्ध्वा मध्ये ग्रन्थिं बध्नाति, बद्ध्वा उपरितनं ग्रन्थिं मुञ्चति, मुक्त्वा उपरितनं देशं वामयति, उपरितनं देशं वामयित्वा उपरितनं देशमप्कायेन पूरयति, पूरयित्वा उपरि सितं बध्

आधार पर है। त्रस और स्थावर जीव पृथ्वी के सहारे हैं। अजीव, जीव के आधार पर टिके हैं। जीव, कर्म के सहारे हैं। अजीवों को जीवों ने संग्रह कर रक्खा है और जीवों को कर्मों ने संग्रह कर रक्खा है।

प्रश्न--भगवन्! इस प्रकार कहने का क्या हेतु है कि 'लोक की स्थिति आठ प्रकार की है और यावत्-जीवों को कर्मों ने संग्रह कर रक्खा है?

उत्तर--हे गौतम! जैसे कोई पुरुष चमड़े की मसक को वायु से फुलावे। फिर उस मसक का मुख बांध दे। मसक के बीच के भाग में गांठ बांधे। फिर मसक का मुंह खोल दे और उसके भीतर की हवा निकाल दे। फिर उस मसक के ऊपर के (खाली) भाग में पानी भरे। फिर मसक का मुख बंद कर दे। फिर उस मसक की बीच की गांठ खोल दे। तो हे गौतम! वह भरा हुआ पानी उस हवा के ऊपर ही ऊपर के भाग में रहेगा?

'हां, रहेगा।'

इसलिए मैं कहता हूं कि यावत् 'कर्मों ने जीवों का संग्रह कर रक्खा है।

अथवा हे गौतम ! कोई पुरुष चमड़े की उस मसक को हवा से फुलाकर अपनी कमर पर बांध ले। फिर वह पुरुष अथाह, दुस्तर और पुरुषा भर से ज्यादा (जिसमें पुरुष मस्तक तक डूब जाय, उससे भी अधिक) पानी में प्रवेश करे। तो हे गौतम ! वह पुरुष पानी के ऊपरी सतह पर ही रहेगा ?

'हां रहेगा।'

इस प्रकार लोक की स्थिति आठ प्रकार की कही है, यावत्—कर्मों ने जीवों को संगृहित कर रक्खा है।

व्याख्यान

अब लोक [illegible] के प्रश्नों से संबंध रखने वाला प्र[illegible] गौतम स्वामी पूछते हैं। गौतम स्वामी कहते हैं—भगवन् ! लोक [illegible] [illegible], अलोक आदि के संबंध में प्रश्न किये और आपने उ[illegible] दिये। परन्तु लोक—स्थिति कितने प्रकार की है ?

इस प्रश्न का भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम ! आ[illegible] प्रकार की है।

गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—भगवन् ! आठ प्रकार [illegible] [illegible] है ?

इस विषय में भगवानने जो निरूपण किया है, उसे जानने से पहले संसार का रंग समझ लेने की आवश्यकता है। गौतम स्वामी ने, जिस पृथ्वी पर हम लोग ठहरे हुए हैं, उसके विषय में यह प्रश्न किया है। इस पृथ्वी के नीचे सात पृथिवियां और हैं। मगर जिस पृथ्वी पर हम लोग स्थित हैं, वह किस आधार पर ठहरी है, यही गौतम स्वामी का प्रश्न है।

इस विषय में अन्य मतावलम्बी जो कुछ कहते हैं वह गौतम स्वामी को ठीक ठीक नहीं जँचा, इसी कारण उन्होंने यह प्रश्न किया है।

कुछ लोगों का कहना है कि यह पृथ्वी शेषनाग पर ठहरी है। अगर यह कथन मान लिया जाय तो प्रश्न होता है कि शेषनाग किस आधार पर ठहरा है? अगर शेषनाग को कच्छप के सहारे और कच्छप (कछुवे) को जल पर आश्रित कहा जाय तो भी प्रश्न समाप्त नहीं होता। आखिर जल किस पर ठहरा है, यह प्रश्न खड़ा ही रहता है। इसके अतिरिक्त जिस शेषनाग के फन पर पृथ्वी ठहरी है, वह कभी तो थकता ही होगा! अगर वह शेषनाग हजार फन वाला है, इस कारण सम्पूर्ण पृथ्वी का भार सहन कर लेता है तो [illegible] शेषनागों पर सेर-दो सेर [illegible] [illegible] नहीं [illegible] है कि

के नीचे, सब से पहले आकाश है। वह आकाश किस पर ठहरा है, यह प्रश्न नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश स्व-प्रतिष्ठ है–वह अपने आप पर ही ठहरा रहता है। उसके लिए अन्य आधार की आवश्यकता नहीं होती। आकाश पर वायु है। वायु के दो भेद हैं–घनवायु और तनुवायु। यों जैन शास्त्रों में वायु के सात लाख भेद बतलाये गये हैं, और विज्ञान भी वायु के बहुतेरे भेद स्वीकार करता है, मगर यहाँ सिर्फ दो भेद ही किये गये हैं, क्योंकि यहाँ उन्हीं की उपयोगिता है। आकाश के पश्चात् तनुवात है और तनुवात के पश्चात् घनवात है। तनुवात का मतलब है–पतली हवा। हल्की चीज भारी चीज को धारण कर लेती है, अतः तनुवात पर घनवात अर्थात् मोटी हवा है। घनवात पर घनोदधि अर्थात् जमा हुआ मोटा पानी है। उस पानी पर यह पृथ्वी ठहरी हुई है। पृथ्वी के सहारे त्रस और स्थावर जीव रहे हुए हैं।

अब यह कहा जा सकता है कि अजीव पृथ्वीरूप यह आकार कैसे बना है? अजीव को कौन धारण करता है? इसका उत्तर यह है कि पृथ्वीकाय के भी जीव हैं। और जीव पर अजीव प्रतिष्ठित है।

जीव सूक्ष्म है और अजीव स्थूल है। लेकिन सूक्ष्म पर स्थूल ठहरा है, यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है। जो भी विशेष शक्ति है, वह सूक्ष्म में पाई जाती है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि अजीव,

जीव पर प्रतिष्ठित है। जीव कर्म-प्रतिष्ठित है अर्थात् कर्म पर अवलंबित है। अजीव को जीव ने संग्रह किया है और जीव को कर्म ने संग्रह किया है।

भगवान् ने यह आठ बातें बतलाई हैं। गौतम स्वामी कहते हैं—प्रभो! आपका कथन सत्य है, मगर इसके लिए कोई उदाहरण भी बताइए, जिससे साधारण शिष्यों का भी उपकार हो! आकाश पर वायु और वायु पर पानी ठहरा है, यह बात आप प्रत्यक्ष देखते हैं, परन्तु ऐसा कोई उदाहरण भी बतलाइए, जिससे यह कथन सहज ही समझ में आ जाय।

भगवान् फर्माते हैं—कल्पना करो, कोई पुरुषार्थ में निपुण और बुद्धिमान पुरुष हाथ में चमड़े की मशक लिए हुए है। उस मशक में वह वायु भरे और मशक का मुँह बाँध दे। फिर बीच में एक रस्सी बाँध कर मशक की हवा को दो विभागों में बाँट दे। तदनन्तर मशक का मुँह खोल कर, एक हिस्से की हवा बाहर निकाल दे और उस खाली हिस्से में पानी भर दे और मशक का मुँह बाँध दे, फिर बीच की रस्सी भी खोल दे। ऐसा करने पर एक ही मशक के ऊपरी भाग में हवा होगी और नीचे भाग में पानी होगा। [illegible] हे गौतम! वह मशक का पानी, मशक में भरी हुई हवा पर ठहरा हुआ रहेगा या नहीं? अवश्य रहेगा। हवा सूक्ष्म है और पानी [illegible] स्थूल है [illegible] हवा के आधार पर पानी ठहरा या नहीं?

गौतम ने कहा—हां, भगवन् ! रहेगा !

इस न्याय से मेरी पहले कही हुई बात सहज ही समझी जा सकती है कि हवा पर पानी रहता है।

अब भगवान् एक दृष्टांत और देते हैं—हे गौतम ! एक चतुर आदमी नदी पार करना चाहता है, परन्तु वह तैरना नहीं जानता. अतएव उसने एक मशक ली, उसमें हवा भरी और उसका मुँह बांध दिया। तदन्तर वह मशक उसने कमर पर या पेट पर मजबूत बांध ली और फिर वह अथाह जल में गिर पड़ा। अब हे गौतम, वह पुरुष उस मशक पर रहेगा मशक उस पर रहेगी ? गौतम स्वामी कहते हैं—वह पुरुष मशक पर रहेगा।

हे गौतम ! वायु सूक्ष्म है। फिर भी वायु मनुष्य का भार वहन करती है। जैसे इसमें संदेह को अवकाश नहीं, उसी प्रकार गौतम आठ प्रकार की लोकस्थिति में भी संदेह करने का कोई कारण नहीं है।

प्रभु का समीचीन ज्ञान निश्चय और व्यवहार—दोनों दृष्टियों से होता है निश्चय दृष्टि से सूक्ष्म से सूक्ष्म बात का भी पता लगाया जाता है। निश्चय दृष्टि से चौदहवें गुणस्थान वाले अयोग केवली भी संसारी ही कहलाते हैं, क्योंकि उनमें संसार का कुछ अंश बाकी भी शेष है। अब व्यवहार दृष्टि से [illegible]

जाता है तो स्थूल बात को देखकर सूक्ष्म को गौण कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ—किसी बगीचे में आम के वृक्ष अधिक हैं और दूसरे प्रकार के कम हैं, तो अन्य वृक्षों के होते हुए भी व्यवहार दृष्टि से वह बगीचा आम का ही कहलाता है, क्योंकि उसमें आम्रवृक्षों की अधिकता है। यहां घनोदधि पर पृथ्वी के ठहरने की जो बात कही है, वह इसी पृथ्वी की अपेक्षा से है।

उस पृथ्वी पर रहने वाले त्रस और स्थावर जीवों का अवस्थान भी प्रायः अपेक्षा से है, क्योंकि सात लोकों को ही पृथ्वी कहते हैं, मगर [illegible] पर और आकाश पर भी प्राणी रहते हैं। अतः पृथ्वी पर त्रस-स्थावर जीव रहते हैं, इस कथन का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि पृथ्वी के अतिरिक्त और कहीं वे नहीं रहते।

अब यह भी देखना है कि अजीव, जीव के आधार पर है, या जीव, अजीव के आधार पर है? [illegible] के आधार रहता है या किस ने किस को आधार दिया है? इस संबंध में भगवान कहते हैं—'अजीवा जीवपइट्ठिया।'

सब जीव के बनाये हुए हैं। यद्यपि कई लोग इन सबका कर्त्ता ईश्वर बतलाते हैं, मगर इसमें सत्यता नहीं है। यह बात पहले स्पष्ट की जा चुकी है और यहाँ उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में आत्मा स्वयं ही कर्त्ता है। आत्मा अनादि है और उसकी शक्ति अपरिमित है। वह अपरिमित शक्ति कर्म-संयोग से दबी हुई है, इसलिये आत्मा को उसका ज्ञान नहीं है। आत्मा अपनी शक्ति को जान ले तो वह पूर्ण है। आत्मा बाहर की ओर देखने का अभ्यासी हो रहा है। वह अपनी ओर नहीं देखता। इसके लिये एक उदाहरण लीजिये :—

एक साहूकार के लड़के के संरक्षक मर गये। वह लड़का ऐश आराम में और गुंडों की सोहबत में पड़कर अपना धन खोने लगा। उसका पिता साहूकार बहुत होशियार था। उसने कुछ धन ऊपर रक्खा था और कुछ ज़मीन में गाड़ दिया था। धन इस चतुराई से गाड़ा गया था कि जानकार को ही मिल सकता था। उस गड़े हुए धन का हाल एक स्वामिभक्त मुनीम के सिवा और किसी को मालूम नहीं था। मुनीम ने उस लड़के से कहा—'या तो तुम अपनी अक्ल से चलो या मेरी सलाह से चलो; मगर गुंडों के इशारों पर मत नाचो। धन [illegible]

[illegible]

[illegible]

बेच कर भिखारी बन गया। वह माँग माँग कर खाने लगा। माँगने पर कोई दे देता तो प्रसन्न होता, न देता तो उसके दुःख का ठिकाना न रहता। इसी प्रकार दिन बीतते गये।

एक बार माँगते-खाते वह अपने मुनीम की दुकान पर जा पहुँचा। लड़के ने मुनीम को तो नहीं पहचाना, परन्तु मुनीम ने उसे पहचान लिया। मुनीम ने उससे पूछा-कहो, यह क्या हाल है? लड़के ने कहा-हाल जो कुछ है, सो दीख रहा है। मुझ को भी खाने को दीजिए। तब मुनीम ने कहा-तुम्हारे घर के दुकान भी मेरे पास है। मैं आप का वही मुनीम हूँ। आप ने मुझे पहचाना नहीं!

मुनीम को पहचान कर लड़का रोने लगा। मुनीम की आँखों में भी आँसू छलक आये। मुनीम ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा-हे मन मेरे बेटे! बाहर का धन गया, परन्तु भीतर का [illegible] अभी विद्यमान है।

मुनीम, लड़के को लेकर उसके घर आया और गड़ा हुआ [illegible] निकाल कर उसका काम चला दिया। लड़का बोला—[illegible] मैं भिखारी बन चुका था। आप ने यह निधान [illegible] [illegible] प्रगट किया है, [illegible] नहीं [illegible] [illegible] [illegible] मुझे [illegible]

मित्रों ! तुम्हारे भीतर ईश्वरीय तत्त्व भरे हुए हैं, लेकिन इन्हें भूलकर तुम संसार के भिखारी बने हुए हो !

भगवान् कहते हैं—गौतम ! शक्ति जीव में ही है। जीव ने ही अजीव को पकड़ रक्खा है। संसार में जितने पदार्थ हैं, सब प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे जीव द्वारा बने हुए हैं। जीव ने ही पृथ्वी रूप आकार बना रक्खा है। पानी (शरीर) भी जीव ने ही बनाया है। अग्नि, पवन, चिऊँटी, हाथी, राजा, रंक, नारकी, देव आदि सब रूप जीव ने ही धारण कर रक्खे हैं। किसी की ताकत नहीं कि वह जीव को पकड़े। जीव ने ही सब को पकड़ रक्खा है।

जैन सिद्धान्त तो कहता ही है, मगर श्रुतियाँ भी यही बात कहती हैं।

एक जगह कहा है—वह आत्मा पृथ्वी के भीतर रहता हुआ भी पृथ्वी से अलग है—रहता वह पृथ्वी में है, मगर पृथ्वी नहीं है। जैसे देह और देही अलग हैं, उसी प्रकार पृथ्वी और पृथ्वी में रहने वाला जीव अलग है। आत्मा पृथ्वी को जानता है, मगर पृथ्वी आत्मा को नहीं जानती। आत्मा ने पृथ्वी का शरीर धारण कर रक्खा है।

जैन शास्त्र 'पृथ्वीकायिक' जीव कहता है। पृथ्वीकायिक का अर्थ—पृथ्वी जिसका शरीर है, ऐसा जीव।

मित्रों! तुम्हारे भीतर ईश्वरीय तत्त्व भरे हुए हैं, लेकिन इन्हें भूलकर तुम संसार के भिखारी बने हुए हो!

भगवान् कहते हैं—गौतम! शक्ति जीव में ही है। जीव ने ही अजीव को पकड़ रक्खा है। संसार में जितने पदार्थ हैं, सब प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे जीव द्वारा बने हुए हैं। जीव ने ही पृथ्वी रूप आकार बना रक्खा है। पानी (शरीर) भी जीव ने ही बनाया है। अग्नि, पवन, चिऊँटी, हाथी, राजा, रंक, नारकी, देव आदि सब रूप जीव ने ही धारण कर रक्खे हैं। किसी की ताकत नहीं कि वह जीव को पकड़े। जीव ने ही सब को पकड़ रक्खा है।

जैन सिद्धान्त तो कहता ही है, मगर श्रुतियाँ भी यही बात कहती हैं।

एक जगह कहा है—यह आत्मा पृथ्वी के भीतर रहता हुआ भी पृथ्वी से अलग है—रहता वह पृथ्वी में है, मगर पृथ्वी नहीं है। जैसे देह और देही अलग हैं, उसी प्रकार पृथ्वी और पृथ्वी में रहने वाला जीव अलग है। आत्मा पृथ्वी को जानता है, मगर पृथ्वी आत्मा को नहीं जानती। आत्मा ने पृथ्वी का शरीर धारण कर रक्खा है।

जैन शास्त्र 'पृथ्वीकायिक' जीव कहता है। पृथ्वीकायिक का अर्थ—पृथ्वी जिसका शरीर है, ऐसा जीव।

बच जाय। संग्रह ही आधार है। इसलिए आप ऐसा कोई काम न करें, जिससे आप में फूट पैदा हो। प्राण और शरीर का वियोग मत करो। इनका वियोग न करना ही दया है। मगर कठिनाई तो यह है कि आप जीवों को भंग करने में लग रहे हैं?

आप सोचते होंगे कि संसार में रहते हुए ऐसा किस प्रकार किया जा सकता है? लेकिन अगर आप जोड़ने का काम नहीं कर सकते और तोड़ने-फोड़ने से सर्वथा नहीं बच सकते, तो भी कम से कम मन में जोड़ने की भावना तो करो। ध्यान में इतनी बात तो रक्खो कि मुझ में बिखेरने और जोड़ने की-दोनों शक्तियाँ विद्यमान हैं। आप यह तो देखते हैं कि हिंसा, झूठ के बिना काम नहीं चल सकता, लेकिन यह क्यों नहीं देखते कि हम हिंसा से जीवित हैं या अहिंसा से जीवित हैं? आप की माता ने आप का पालन हिंसा की भावना से किया है या अहिंसा की भावना से? जगत् का व्यवहार सत्य से चलता है या असत्य से? आपको भूख लगी हो, फिर भी आप कहें कि मुझे भूख नहीं है तो कब तक काम चलेगा? वास्तव में सब काम सत्य से ही चल रहे हैं, मगर आप ने असत्य का आश्रय लेकर अपनी भावना मलिन बना ली है।

तात्पर्य यह है कि हमें सब प्रकार के भेदों का परित्याग कर के समग्र जगत का विचार करना चाहिए। ऐसा कर [illegible] करने वाला ही कल्याण का भागी होता है।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मृत्यु भी एक प्रकार से, चाहने से होती है। चाह दो प्रकार की है–एक दिखावटी एवं बनावटी चाह और दूसरी असली एवं सच्ची। सच्ची चाह मस्तिष्क में उत्पन्न होती है और बाहर पूरी होती है। मकान एक दिन किसी की इच्छा-शक्ति में आया और तभी बना। वह इच्छा शक्ति अगर निर्बल होती तो मकान न बनता। लेकिन मकान विषयक इच्छा शक्ति प्रबल थी, इससे मकान बन गया। इसी प्रकार जीव की इच्छा शक्ति उसके जीवन और मरण का कारण होती है। मगर बच्चों के खेल की-सी इच्छा शक्ति से काम नहीं चलता, इच्छा शक्ति में प्रगाढ़ता होनी चाहिए।

प्रायः देखा जाता है कि मरणासन्न मनुष्य का जीव जब नहीं निकलने लगता है—अटक जाता है, तो उससे लोग पूछते हैं–आप क्या चाहते हैं? उनकी कुछ कहने पर जब उन्हें संतोष दिया जाता है कि यह काम हो जायगा, तब वह प्राण छोड़ देता है। इस प्रकार जीव ने ही शरीर टिका रक्खा है। इसी प्रकार अन्य शरीरों को भी जीवों ने ही टिका रक्खा है, इसी कारण [illegible] कहते हैं—'[illegible]' [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] है। [illegible] प्रकार की स्थिति का वर्णन किया गया।

कोई पूछे, द्रष्टा बड़ा है या दृश्य ? संसार के सारे पदार्थ दृश्य हैं और आत्मा द्रष्टा है। अब इन दोनों में बड़ा कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में यह प्रश्न करना ही उचित होगा कि जौहरी बड़ा है या हीरा ? हीरा बड़ा है या उसकी परीक्षा करने वाला ? सब समझदार यही स्वीकार करेंगे कि दृश्य की अपेक्षा द्रष्टा बड़ा है। मगर आज हम इससे विपरीत होता देखते हैं। आज लोग व्यवहार में द्रष्टा को छोटा और दृश्य को बड़ा मान बैठे हैं। उन्हें द्रष्टा की कोई चिन्ता नहीं, चिन्ता है केवल दृश्य की। आत्म तत्त्व का ध्यान भूल कर लोग जड़ पदार्थों के लिए ही व्याकुल हो रहे हैं। इसका कारण अज्ञान है। अज्ञान के कारण लोगों ने असली तत्त्व को विसार दिया है और दृश्य पर अपने आदर्श निछावर कर रहे हैं।

मन, भाषा, इन्द्रियाँ तथा अन्य पदार्थ दृश्य हैं, और आत्मा इन सब का द्रष्टा है। शरीर की अपेक्षा [illegible]

भूल कर दृश्य के लिए ही परेशान रहता है। वह अपनी गुरुता को विसर गया है और तुच्छ वस्तुओं को अपने से अधिक मूल्यवान् मान रहा है। एक कारीगर ने पुतली बनाई। पुतली जमीन पर गिर कर फूट गई। अब अगर कारीगर उसके लिए रोता-बिलखता है, तो पुतली बड़ी कहलाई या कारीगर बड़ा कहलाया ?

'पुतली !'

मनुष्य अज्ञान के कारण रोता है। वह वस्तु स्थिति को नहीं पहचानता, इसी से रोता है। जरा—जरा सी बातों के लिए रोना, अज्ञानपूर्ण है और पशुसे भी निकृष्ट होने का प्रमाण है। वास्तव में पौद्गलिक पदार्थों के फेरमें पड़ जाने के कारण ही मनुष्य वास्तविकता से बहुत दूर जा पड़ा है। अज्ञान के ही कारण मनुष्य, मनुष्य के लिए इतना भयंकर हो पड़ा है, जितना सांप भी नहीं होता। सांप के काटने से थोड़े ही मनुष्य मरते हैं, मगर मनुष्य के काटने से प्रति वर्ष लाखों मनुष्य मरते हैं। यह [illegible] तोपें, मशीनगनें और [illegible] आदि किसके [illegible] क्या मनुष्य ने मनुष्य के विनाश करने के लिए ही नहीं बनाये हैं ? इस सब का कारण क्या है ? यही कि मनुष्य [illegible] भूल गया है और [illegible] पदार्थों [illegible] [illegible] हो गया है।'

अगर कोई चित्रकार भिन्न भिन्न प्रकार के रंग दिखलाकर किसी साधारण मनुष्य को यह समझाने का प्रयत्न करे कि इन रंगों में हाथी, घोड़े, आदि के चित्र समाये हुए हैं तो साधारण मनुष्य की बुद्धि में यह बात कदापि नहीं आ सकती। किन्तु वह चित्रकार अपनी तूलीका से जब उसी रंग की लकीरें दीवाल पर बना देता है, तब उन्हें देखकर एक बच्चा भी बतला देता है कि यह अमुक जीव का चित्र है, जैसे रंग में चित्र बनाने की शक्ति विद्यमान है, किन्तु दीवाल पर चित्र बनाने से पहले लोग उसे कम ही समझ पाते हैं, उसी प्रकार शास्त्रिय ज्ञान में बहुत बड़े २ मर्म छिपे हुए हैं, किन्तु जबतक कोई वैसा चित्र जन साधारण के सामने प्रस्तुत नहीं किया जाता, तब तक उसका महत्व उनकी समझ में नहीं आता। वास्तव में ज्ञान भी रंग की भांति है इसी कारण भगवानने जगह जगह उदाहरण देकर तत्व ज्ञान कराया है।

जीव, अजीव का संग्राहक है, अर्थात् अजीव को जीव ने पकड़ रक्खा है, यह आठवें प्रकार की लोकस्थिति है। भगवान कहते हैं—

अजीवा जीवसंगहिया।

जीव ने अजीवों का संग्रह कर रक्खा है। अजीव में जीव को पकड़ने की ताकत नहीं है। यह शक्ति जीव में ही है कि वह अजीव को इस रूप में रखता है। अजीव संग्राह्य है और जीव इस सब का संग्राहक है।

रुपया ऐसे काम में खर्च न करके किसी वेश्या को दे दिया तो उसका विनियोग ठीक नहीं हुआ। अगर आप समझ जाएँगे कि रुपया संग्रह्य है और मैं उसका संग्राहक हूँ तो आप उसका दुरुपयोग नहीं करेंगे और उसके गुम जाने पर शोक भी नहीं करेंगे। आप समझेंगे कि पैसा कमाना बड़ी बात नहीं है, बड़ी बात उस का उपयोग करना है।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि अगर जीव, जड़-पुद्गलों का संग्रहकर्त्ता है तो सिद्ध जीव पुद्गलों का संग्रह क्यों नहीं करते? अगर निरंजन, निराकार सिद्ध जीव पुद्गलों का संग्रह नहीं करते तो सिद्धान्तः यह बात कैसे कही जा सकती है कि जड़ को जीव ने संग्रह कर रक्खा है? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्र कहता है:—

जीवा कम्मसंगहिया।

अजीव को पकड़ने की आदत आत्मा की अपनी नहीं है, परन्तु जीव में एक विकारी आदत पैदा हो गई है। इसी विकारी आदत या वैभाविक अवस्था के कारण जीव, जड़ का संग्रह करता है। आत्मा के इस विभाव को कोई-कोई त्रिगुणात्मक प्रकृति कहते हैं और जैन धर्म इसे आठ कर्मों का [illegible] कहता है। इन आठ कर्मों की विकारी आदत के वश हो कर ही जीव, अजीव को पकड़ता है। कर्म का अर्थ है—जो किया जाय, जिसे

अगर तल में मालपुआ छोड़ा जाय तो वहां आधार आधेय भाव और संग्राह्य संग्राहक भाव—दोनों होंगे तेल आधार और मालपुआ आधेय है। और तेल संग्राह्य एवं मालपुआ उसका संग्राहक है।

सार यह है कि संसार की स्थिति किस प्रकार है इस प्रकार का उत्तर शास्त्र में इस प्रकार दिया गया है कि जीव में और अजीव में—जो कि संसार रूप हैं आधार—आधेय भाव और संग्राह्य-संग्राहक भाव विद्यमान है। इसी से संसार की स्थिति है। मगर जब तक जीव कर्मयुक्त है, तभी तक वह ऐसा करता है, कर्म से मुक्त होने पर ऐसा नहीं करेगा। कर्मयुक्त होने के कारण जीव, अजीवों को भिन्न-भिन्न रूप प्रदान करता है। मनुष्य दूध पीता है। पेट दूध का आधार बना और दूध उसका आधेय हुआ। परन्तु यदि पेट की अग्नि बुझ गई हो तो क्या होगा? अर्थात् संग्राह्य-संग्राहक भाव नहीं रहेगा। क्योंकि दूध हजम ही नहीं होगा। जठराग्नि दूध के खल भाग और रसभाग को अलग करती है, इसी से नाक, कान, आंख आदि के रूप में वह परिणत होता है। यह संग्राह्य-संग्राहक भाव की शक्ति है।

जीव-पुद्गल सम्बन्ध

मूलपाठ-प्रश्न-अत्थि णं भंते ! जीवा य पोग्गला य अन्नमन्नबद्धा, अन्नमन्नपुट्ठा, अन्नमन्न-ओगाढा, अन्नमन्नसिणेहपडिबद्धा, अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठंति ?

उत्तर-हंता अत्थि ।

प्रश्न-से केणट्ठेणं भंते ! जाव-चिट्ठंति ?

उत्तर-गोयमा ! से जहानामए हरदे सिया, पुण्णे, पुण्णप्पमाणे, वोलट्टमाणे, वोसट्टमाणे, समभरघडत्ताए चिट्ठइ ।

अहे णं केई पुरिसे तंसि हरदंसि एगं महं नावं सयासवं, सयछिद्दं ओगाहेज्जा । से णूणं गोयमा ! सा णावा तेहिं आसवदारेहिं

आपूरेमाणी आपूरेमाणी पुण्णा, पुण्णपमाणा, वोलट्टमाणा, वोसट्टमाण, समभरघडत्ताए चिट्ठइ ?

हंता, चिट्ठइ । '

से तेणट्ठेणं गोयमा ! अत्थि णं जीवा य जाव–चिट्ठंति ।

संस्कृत–छाया–प्रश्न–अस्ति भगवान् ! जीवाश्च पुद्गलाश्च अन्योन्यबद्धाः, अन्योन्यस्पृष्टाः, अन्योन्यावगाढाः, अन्योन्यस्नेहप्रतिबद्धाः, अन्योन्यघटतया तिष्ठंति ?

उत्तर–गौतम ! हन्त, अस्ति ।

प्रश्न–तत् केनार्थेन भगवन् ! यावत् तिष्ठंति ?

उत्तर–गौतम ! यथानाम कोऽपि ह्रदः स्यात्, पूर्णः पूर्णप्रमाणः, [illegible], [illegible], समभरघटतया तिष्ठति ।

अथ कश्चित् पुरुषस्तस्मिन् ह्रदे एकां महतीं नावं शतास्रवां, [illegible], अवगाहयेत्, तद् नूनं गौतम ! सा नौः तैः आस्रवद्वारैः आपूर्यमाणा आपूर्यमाणा, पूर्णा, पूर्णप्रमाणा, [illegible], [illegible] समभरघटतया तिष्ठति ?

की हुई पानी से बंद हो जायगी ? और वह भरे घड़े के समान होगी ?

'हां, होगी।'

इसलिए हे गौतम ! मैं कहता हूँ यावत् जीव पुद्गल परस्पर बद्ध होकर रहे हुए हैं।

व्याख्यान

गौतम स्वामी पूछते हैं-प्रभो ! जीव शिव-स्वरूप है, परमात्मा है और पुद्गल जड़ एवं मूर्त है। तो भी क्या जीव और पुद्गल परस्पर संबद्ध हैं ? बहुत संबद्ध हैं ? एक दूसरे से मिले हुए हैं ? चिकनाई के कारण परस्पर प्रतिबद्ध हैं ? क्या ये परस्पर मिले हुए हैं ?

जैसे काजल की कोठरी में जाने पर काजल की रेख लगती ही है, उसी प्रकार जहाँ जीव है, वहाँ पुद्गल भी है और जहाँ पुद्गल है वहाँ जीव भी है, जीव और पुद्गलों की एकत्र स्थिति होने से दोनों का एकत्र अवगाह होता है, अवगाह होने से वे स्पृष्ट होते हैं और स्पृष्ट होने से बद्ध होते हैं।

प्रश्न होता है—अगर एकत्र अवगाह होने से जीव और पुद्गल परस्पर स्पृष्ट और बद्ध होते हैं तो उन सिद्धों के [illegible] में

से आत्मा की राग-द्वेष की स्निग्धता मिट जाती है, तब आत्मा ही परमात्मा बन जाता है।

राग-द्वेष के मिटाने का उपाय क्या है? उपाय कोई कठिन नहीं है। संसारी जीव किसी वस्तु को पाकर हर्ष से उन्मत्त हो जाता है, किसी को पाकर विषाद के गहरे सागर में गोते खाने लगता है। किसी बात से अपमान और किसी से सन्मान की कल्पना करता है। अगर यह स्वभाव छूट जाय और समभाव में स्थित रहने का अभ्यास किया जाय तो राग—द्वेष का अन्त आ सकता है।

गौतम स्वामी ने यह प्रश्न इसलिए किया है कि कई दर्शनों वाले यह मानते हैं कि कर्म, जीव के साथ बँधे हुए नहीं हैं, ऊपर ऊपर से लगे हैं, एकमेक नहीं हो रहे हैं। उनका यह भी कहना है कि अगर जीव और कर्म एकमेक हो जाएँ तो जीव का जीवत्व ही मिट जाए। इस मत पर प्रकाश डलवाने के निमित्त ही गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है कि—भगवन्! जीव और कर्म ऊपर-ऊपर से ही मिले हैं या अन्दर से भी मिले हैं?

इसके अतिरिक्त गौतम स्वामी के प्रश्न का एक उद्देश्य यह भी है कि जीव अमूर्त और चेतनामय है, [illegible] है। [illegible] [illegible] होते हैं?

डाली। नौका चली। गौतम, यह बतलाओ कि अगर नौका में सैकड़ों छोटे बड़े छिद्र हों तो उसमें पानी भरेगा या नहीं ?

गौतम बोले--भरेगा।

भगवान् ने कहा--वह नौका पानी से पूरी भर गई और डूबकर तालाब के तल भाग में बैठ गई। अब नौका कहां है और और पानी कहां ? यह भिन्नता देखने में आ सकती है ?

'नहीं।'

क्योंकि वह नौका और पानी आपस में मिल गये हैं। जहां जल है वहां नौका है, जहां नौका है वहां जल है।

इसी प्रकार संसार रूपी द्रह में पुद्गल रूपी पानी भरा है। यह पुद्गल रूपी पानी सम्पूर्ण लोक में सर्वत्र भरा हुआ है। संसार रूपी तालाब के पुद्गल रूपी जल में जीव रूपी नौका है। नौका का धर्म पानी पर तैरना है, परन्तु जिस नौका में छिद्र हैं, वह उदाहरण में कही हुई नौका के समान पानी में डूब जाती है। इस जीव रूपी नौका में भी छिद्र हैं। इन छिद्रों के द्वारा पुद्गल रूपी पानी आये बिना कैसे रह सकता है ? जीव में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ही [illegible] हैं और इन्हीं से कर्म-पुद्गल आते रहते हैं। जैसे तालाब में [illegible], [illegible] से

जीव में पहले का जो कर्म रूपी जल घुसा हुआ है, उसे बाहर निकाल देने पर आत्मा निरंजन, निराकार निर्लेप हो जायगा। अनुभव करके देखो तो इस कथन की सत्यता में तनिक भी संदेह को अवकाश नहीं रहेगा।

ज्ञानी कहते हैं, अगर इतना तुमसे नहीं हो सकता तो प्राथमिक दशा में एक बात का सहारा ग्रह लो। वह यह है:—

तो सुमरन बिन या कलियुग में अवर नहीं आधारो।
मैं वारी जाऊँ तो सुमरन पर दिन दिन प्रेम बधारो ॥टेर.॥

सब का निचोड़ यह है कि और कुछ भी न बन पड़े तो परमात्मा का स्मरण करते रहो। स्मरण ऐसी सरल रीति से भी हो सकता है कि न माला जपनी पड़े न मुँह ही हिलाना पड़े।

"श्वास उसास विलास भजन को दृढ़ विश्वास पकड़ रे!"

ऐसा होने पर संसार के अन्यान्य कामों से शरीर की फुर्सत न मिलने पर भी काम बन जायगा। संसार के कामों के साथ साथ भजन भी चलता रहेगा। इस प्रकार से भी [illegible] दोषों से क्रोध, मोह आदि दब जाएंगे।

रागादि को जीतने का दूसरा मानसिक उपाय यह है कि [illegible] का बदला, द्वेष से नहीं लेना चाहिए। [illegible]

का बदला प्रेम से देने का परिणाम अच्छा हुआ है। इसके भी उदाहरण मौजूद हैं। अपराध का बदला हिंसा के रूप में देने का परिणाम यह होता है कि हिंसा करते-करते निरपराधी की भी हिंसा होने लगती है। शिकार खेलने वाले कहते हैं—अगर हम शिकार नहीं खेलेंगे तो हम में वीरता नहीं रहेगी। लेकिन ऐसी वीरता, वीरता नहीं क्रूरता है। इसलिए शत्रुत्व की चाल छोड़ कर संसार की चाल चलो। अपराध का बदला प्रेम से दो ताकि स्व-पर का कल्याण हो।

स्नेहकाय

मूलपाठ—

प्रश्न-अत्थिणं भंते ! सया समियं सुहुमे सिणेहकाये पवडइ ?

उत्तर-हंता, अत्थि ।

प्रश्न-से भंते ! किं उड्ढं पवडइ, अहे पवडइ, तिरिए पवडइ ?

उत्तर-गोयमा ! उड्ढे वि पवडइ, अहे वि पवडइ, तिरिए वि पवडइ ?

प्रश्न-जहा से बायरे आउयाए अन्नमन्न-समाउत्ते चिरं पि. दीहकालं चिट्ठइ तहाणं से वि ?

उत्तर-गौतम ! हां, पड़ता है ।

प्रश्न भगवन् ! वह ऊपर पड़ता है, नीचे पड़ता है, या तिरछा पड़ता है ?

उत्तर-गौतम ! वह ऊपर भी पड़ता है, नीचे भी पड़ता है और तिरछा भी पड़ता है ।

प्रश्न-भगवन् ! वह सूक्ष्म जलकाय स्थूल जलकाय की भाँति परस्पर समायुक्त होकर, बहुत समय तक रहता है ?

उत्तर-गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है । वह सूक्ष्म जलकाय शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ।

भगवन् ! यह इसी प्रकार है, ऐसा कह कर गौतम स्वामी विचरते हैं ।

व्याख्यान

श्री गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—भगवन् ! क्या यह सत्य है कि सूक्ष्म स्नेहकाय-अप्काय-निरन्तर पड़ता रहता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्माते हैं—हे गौतम ! हां, सदा पड़ता रहता है । यह प्रमाणयुक्त ही पड़ता है, बादर अप्काय की तरह [illegible] परिमित नहीं पड़ता । जैसे बादर अप्काय [illegible] पड़ता है, [illegible] पड़ता, इसी प्रकार सूक्ष्म स्नेहकाय भी नहीं पड़ता है, [illegible]

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! जिस प्रकार बादर अप्काय पूर-पूर संग्रह होकर तालाब आदि में भरता है, क्या उसी प्रकार सूक्ष्म स्नेहकाय भी संग्रह होता है ? इस का उत्तर भगवान् ने दिया—गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है । अर्थात् ऐसी बात नहीं है । गौतम स्वामी पूछते हैं—क्यों भगवन् ! ऐसा क्यों नहीं होता ? भगवान् फर्माते हैं—गौतम, सूक्ष्म स्नेहकाय ज्यों ही पड़ता है कि उसी समय सूख जाता है । शीघ्र ही उसका विध्वंस हो जाता है ।

गौतम स्वामी ने 'सेवं भंते ! सेवं भंते !' कहा । अर्थात् हे प्रभो ! आपका कथन सत्य है तथ्य है ।

ज्जमाणे किं देसेणं-देसं उववज्जइ, देसेणं सव्वं उववज्जइ, सव्वेणं-देसं उववज्जइ, सव्वेणं-सव्वं उववज्जइ ?

उत्तर—गोयमा! नो देसेणं देसं उववज्जइ, नो देसेणं सव्वं उववज्जइ, नो सव्वेणं देसं उववज्जइ, सव्वेणं सव्वं उववज्जइ; जहा नेरइए, एवं जाव—वेमाणिए।

प्रश्न—नेरइया णं भंते! नेरइएसु उववज्जमाणे किं देसेणं देसं आहारेइ, देसेणं सव्वं आहारेइ, सव्वेणं देसं आहारेइ, सव्वेणं सव्वं आहारेइ ?

उत्तर—गोयमा! नो देसेणं देसं आहारेइ, नो देसेणं सव्वं आहारेइ, सव्वेणं वा देसं आहारेइ, सव्वेणं वा सव्वं आहारेइ।

प्रश्न—नेरइए णं भंते नेरइएहिंतो उवव-ट्टमाणे किं देसेणं देसं उववट्टइ?

उत्तर—जहा उववज्जमाणे तहेव उवव-ट्टमाणे वि दंडगो भाणियव्वो।

प्रश्न—नेरइए णं भंते नेरइएहिंतो उव-वट्टमाणे किं देसेणं देसं आहारेइ?

उत्तर—तहेव जाव—सव्वेणं वा देसं आ-हारेइ, सव्वेणं वा सव्वं आहारेइ, एवं जाव—वेमाणिए।

एवं यावद् वैमानिकः ।

प्रश्न—नैरयिकः भगवन् ! नैरयिकेषु उपपद्यमानाः किं देशेन देशमाहारयन्ति, देशेन सर्वमाहारयन्ति, सर्वेण देशमाहारयन्ति सर्वेण सर्वमाहारयन्ति ?

उत्तर—गौतम ! नो देशेन देशमाहारयन्ति, नो देशेन सर्वमाहारयन्ति, सर्वेण वा देशमाहारयन्ति, सर्वेण वा सर्वमाहारयन्ति । एवं यावद् वैमानिकाः ।

प्रश्न—नैरयिको भगवन् ! नैरयिकेभ्य उद्वर्त्तमानः किं देशेन देशमुद्वर्तते ?

उत्तर—यथा उपपद्यमानस्तथैव उद्वर्तमानेऽपि दण्डको भणितव्यः ।

प्रश्न—नैरयिको भगवन् ! नैरयिकेभ्य उद्वर्तमानः किं देशेन देशमाहारयति ?

उत्तर—तथैव, यावत् सर्वेण वा देशमाहारयति, सर्वेण वा सर्वमाहारयति । एवं यावत् वैमानिकः ।

सूत्रार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! नारकियों में उत्पन्न होता हुआ

नारकी जीव क्या एक भाग से, एक भाग को आश्रित कर के उत्पन्न होता है, एक भाग से सर्व भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है, सर्व भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है अथवा सब भागों से सब भागों का आश्रय करके उत्पन्न होता है?

उत्तर—गौतम! नारकी जीव एक भाग से एक भाग को आश्रित के उत्पन्न नहीं होता, एक भाग से सर्व भाग को आश्रित करके भी उत्पन्न नहीं होता और सर्व भाग से एक भाग को आश्रित करके भी उत्पन्न नहीं होता; किन्तु सर्व भागों का आश्रय करके उत्पन्न होता है। नारकी के समान वैमानिकों तक इसी प्रकार समझना चाहिए।

प्रश्न—भगवन्! नारकियों में उत्पन्न होता हुआ नारकी जीव क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है, एक भाग से सर्व भाग को आश्रित करके आहार करता है, सर्व भागों से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है अथवा सर्व भागों से सर्व भागों को आश्रित करके आहार करता है?

उत्तर—हे गौतम ! वह एक भाग से एक भाग को आश्रित करके आहार नहीं करता। एक भाग से सर्व भाग को आश्रित करके आहार नहीं करता। किन्तु सर्व भागों से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है या सर्व भागों से सर्व भागों को आश्रित करके आहार करता है। इसी प्रकार वैमानिकों तक जानना।

प्रश्न—भगवन् ! नारकियों में से उद्वर्तमान निकलता हुआ नारकी क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके निकलता है ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न करना चाहिए।

उत्तर—गौतम ! जैसे उत्पन्न होते हुए के विषय में कहा, वैसे ही उद्वर्तमान के विषय में दंडक कहना चाहिए।

प्रश्न—भगवन् ! नैरयिकों से उद्वर्तमान नैरयिक क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है ? इत्यादि प्रश्न करना चाहिए।

उत्तर—हे गौतम ! पहले की ही तरह जानना। यावत् सर्व भागों से एक देश को आश्रित करके आहार करता है या सर्व भागों से सर्व भागों को आश्रित करके आहार करता है। इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक जानना।

चुका है। नरकायु का उदय होते ही उस जीव को नारकी कहा जा सकता है। अगर ऐसा न माना जाय तो उसे किस गति का जीव कहा जायगा ? मनुष्य या तिर्यंच की आयु समाप्त हो गई है, अतः मनुष्य या तिर्यंच तो कह नहीं सकते; और नरक में नहीं पहुँचने के कारण नारकी भी न कहा जाय तो फिर उसे किस गति में कहा जाय ? वह नरक के मार्ग में है, नरकायु का उदय उसके हो चुका है, इसलिए नरक में उत्पन्न न होने भी उसे नरक का जीव ही कहना उचित है।

गौतम स्वामी के प्रश्न में बड़ा रहस्य है। संसार में अनेक ऐसी बातें हैं, जिनसे अपने तत्त्व की गाड़ी, बचाते हुए निकाल ले जाना बड़ी कठिनाई का काम है। गौतम स्वामी के प्रश्न में तत्त्व की गाड़ी का बचाव किया गया है। किसी को टक्कर भी न लगे और अपनी गाड़ी भी निकल जाए, ऐसा करना बड़ी सावधानी का काम है, यही सावधानी इस प्रश्न में रक्खी गई है। गौतम स्वामी ने अपने प्रश्न में अन्यान्य वादियों के वाद को बचाते हुए भगवान् से प्रश्न किया है कि प्रभो ! कोई [illegible] [illegible] है; लेकिन आत्मा निकलता जाता है, तो [illegible] भगवान् ने उत्तर में फर्माया—हे गौतम ! मैं ऐसा [illegible] मानता हूँ।

शास्त्रकारों ने [illegible] [illegible] [illegible] स्याद्वाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। कहीं किसी [illegible] [illegible]

कोई अभीष्ट नहीं था, और न सत्य सिद्धान्त को दबाना ही अभीष्ट था। उन्होंने अनेक बातें सीधी-सादी युक्तियों और उपमाओं से सिद्ध करके दिखलाई हैं। उनकी सादी और बुद्धि-गम्य युक्तियां देखकर उन पर विश्वास करना चाहिए। कदाचित् कोई बात समझ में न आवे तो भी यह विचारना चाहिये कि मेरी समझ में न आने से ही कोई बात मिथ्या नहीं हो सकती। मेरी समझ इतनी परिपूर्ण नहीं है कि उसे सत्य-असत्य की कसौटी बनाया जा सके। वीतराग महापुरुषों को राग-द्वेष नहीं फैलाना था, फिर वे असत्य बात क्यों कहते? जिनका राग-द्वेष नष्ट हो गया है और जो [illegible] हैं, उनकी बात पर विश्वास करना ही विवेक शीलता है।

आप यह जानते हैं कि नारकी जीव नरक में चाहे सर्व से सर्व आलिंगन करके उत्पन्न हों या देश से देश का आश्रय करके उत्पन्न हों, इससे हमें क्या प्रयोजन है? इस संबंध में ज्ञानियों का कथन यह है कि जिनकी बुद्धि संकीर्ण है, वे भले ही ऐसी बातों को [illegible] समझें, परन्तु ज्ञानवानों ने सभी पर विचार किया है। [illegible] लोगों को भले ही बात [illegible] लगती है और [illegible] भले ही [illegible], लेकिन ज्ञानी, नारकी जीवों को लेकर [illegible] को [illegible] की दृष्टि से देखते हैं [illegible] [illegible] पर [illegible] नहीं है।

एक भोजन थाली में होता है—जो सुन्दर और स्वादु प्रतीत होता है, और दूसरा भोजन पेट में होता है, जो पच रहा है। पेट में जो भोजन पच रहा है, उसकी स्थिति कैसी होती है, यह वात वमन (कै) देख कर आपने जानी होगी। यानी उसे देख कर घृणा होती है अगर आपसे यह पूछा जाय कि थाली के भोजन में क्या उपयोगिता है ? और थाली का भोजन सुन्दर और पेट का भोजन घृणाजनक क्यों है ? आप इस प्रश्न का क्या उत्तर देंगे ? अगर थाली का भोजन भूख न मिटावे और पचे नहीं तो कौन उसे अच्छा कहेगा ? इससे प्रकट है कि भोजन की अच्छाई अपनी पाचन शक्ति पर निर्भर है। अगर आप यह सोचने लगें कि पेट में गया हुआ भोजन खराब हो जाता है और इसलिए उसे पेट में डालने से क्या लाभ है ? ऐसा सोचकर भोजन न करें तो शक्ति कहाँ से आएगी ? अगर थाली का भोजन पेट में पहुँच कर थाली के जैसा बना रहे—बदले नहीं तो भयंकर उपद्रव मच जाएगा।

आप थाली के भोजन से प्रीति और पचते हुए भोजन से घृणा करते हैं, मगर ज्ञानी कहते हैं कि आप भ्रम में हैं। जो [illegible] महत्व भी है और जिसके कारण ही भोजन [illegible] है, उसी से तुम घृणा करते हो ! इस प्रकार जब [illegible] [illegible] [illegible] के विषय में भी बुराई और ज्ञानियों की दृष्टि में

में से दो भाग निकल जाते हैं और एक भाग उपयोगी होता है। आधुनिक विज्ञान से यह प्रतीत हुआ है कि मनुष्य वास्तविक आवश्यकता से कई गुना अधिक भोजन करता है। लोगों को ज्ञान नहीं है कि उनके शरीर को दरअसल कितने आहार की आवश्यकता है? अतएव जब तक पेट न फूल जाय, लोग अन्धाधुन्ध पेट भरते जाते हैं। लोगों की यह आदत ही पड़ गई है। अगर कोई किसी दिन अपने दैनिक भोजन से कुछ न्यून खाता है तो उसे यह अंदेशा हो जाता है कि आज मैं भूखा हूँ—मैंने पेट भर भोजन नहीं किया। आजकल के श्रीमान् लोग नाना प्रकार के स्वादिष्ट मसाले, अचार और चटनी केवल इसी लिए खाते हैं कि भूख न लगने पर भी पेट ठूंस-ठूंस कर भर लिया जाय। ऐसा करने से भले थोड़ी देर जिह्वा सुख मिलता हो या अपनी शौकीनी का अनुभव करके आनंद होता हो, मगर शरीर को बहुत हानि पहुँचती है। संसार में एक ओर गरीब लोग भूख से तड़फ-तड़फ कर मर रहे हैं, दूसरी ओर बिना भूख के भोजन को ठूंस-ठूंस कर पेट भरते जाते हैं और उसको पचाने के लिए नाना गोलियाँ खाई जाती हैं! इसी कारण संसार में अंधेर मच रहा है।

शरीर विज्ञान भी कूट-कूट कर भरा है। एक अनुभवी ने बतलाया है कि दस तोला अन्न अगर खूब चबा-चबा कर खाया जाय तो मनुष्य बखूबी जीवित रह सकता है। मगर यहाँ तो हाल ही और है! जो जितना खा पाता है, वह उतना ही अधिक प्रसन्न होता है! फिर अगर कहीं पराये घर का भोजन हुआ, तब तो कहना ही क्या है? फिर तो यह कहावत चरितार्थ होती है:—

> परान्नं प्राप्य दुर्बुद्धे, मा शरीरे दयां कुरु।
> परान्नं दुर्लभं लोके, शरीराणि पुनः पुनः॥

अर्थात्—अरे मूढ़! पराया अन्न पाकर शरीर पर दया मत कर। शरीर तो बार बार मिलते ही रहते हैं, मगर पराया अन्न मिलना दुर्लभ है!

[illegible] ने देह का आदर करते हैं, इस प्रसंग में बहुत [illegible] किया है। जैन सिद्धान्त और आहार नहीं [illegible] पेट में [illegible] किया जाता है। परन्तु आहार एक आवश्यक वस्तु है [illegible] प्रोटीन होती है और जिससे शरीर का निर्माण एवं [illegible] होता है मुख द्वारा खाया हुआ आहार [illegible] [illegible]

[illegible]

लिए कहा गया है कि सर्व से देश आश्रित आहार करता है।

शास्त्र में दूसरी बात यह कही गई है कि जीव सर्व से सर्वाश्रित आहार करता है! अब इस कथन पर विचार करना चाहिए। सर्व प्रथम यह शंका उपस्थित होती है कि खाने पर मल-मूत्र तो होता ही है, फिर सर्व-आहार क्यों कहा है? पर यह शंका ठीक नहीं है। गर्भ का बालक, नाल से आहार करता है जिन पुद्गलों का आहार करता है, वे सभी पुद्गल धातुएँ बन जाते हैं। इस दृष्टि से 'सव्वेणं वा सव्वं' यह कथन ठीक बैठता है।

शास्त्रों में जहां सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम विषयों का विशद विवेचन किया गया है, वहां स्थूल विषयों को भी नहीं छोड़ा गया है। उनमें आध्यात्मिक वर्णन के साथ नरक का वर्णन है। इसीलिए शास्त्रों का वर्णन सर्वांग पूर्ण है। मगर हमारी दृष्टि बहुत संकीर्ण है। हम लोग नरक का वर्णन भी पढ़ते हैं, किन्तु वस्तुओं से घृणा करते हैं। इसी अज्ञान के कारण लोग [illegible]

होने वाले अन्तर्नाद को तुम्हारे कानों तक पहुँचाना मेरा फर्ज है। पॉलिसी ही पॉलिसी में ऊपरी दिखावट करते-करते धर्म की प्रतिष्ठा नष्ट हो गई। जबतक धर्म कहलाने वालों में सद्भावना का उदय नहीं होता, तबतक धर्म की प्रतिष्ठा नहीं जम सकती।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवान् ! जब जीव की स्थिति नरक में पूरी हो जाती है तो वह एक भाग से एक भाग, एक भाग से सर्व भाग, सर्वभाग से एक भाग या सर्वभाग से सर्वभाग के आश्रित निकलता है ? भगवान् ने फर्माया—उत्पत्ति के संबंध में जो बात कही गई, वही निकलने के संबंध में भी समझ लेना चाहिए।

तब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! नरक से निकलता हुआ नारकी देश से देश का आहार करता है या किसी प्रकार? भगवान् ने उत्तर दिया—इस विषय में भी पहले की ही तरह समझना चाहिए। अर्थात् देश से देश का नहीं, देश से सर्व का नहीं, सर्व से देश का अथवा सर्व से सर्व का आहार करता है।

उत्पात और आहारविषयक प्रश्नोत्तर

मूलपाठ—

प्रश्न—नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उववन्ने किं देसेणं देसं उववन्ने ?

उत्तर—एसो वि तहेव । जाव सव्वेणं सव्वं उववन्नए । जहा उववज्जमाणे, उव्वट्टमाणे य चत्तारि दंडगा, तहा उववन्नेणं, उव्वट्टेण वि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा । सव्वेणं सव्वं उववन्ने । सव्वेणं वा देसं आहारेइ, सव्वेणं वा सव्वं आहारेइ । एएणं अभिलावेणं उववन्ने वि, उव्वट्टे वि नेयव्वं ।

प्रश्न—नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं अद्धेणं अद्धं उववज्जइ, अद्धेणं सव्वं

इन शब्दों द्वारा उपपन्न और उद्वृत्त के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

प्रश्न—भगवन् ! नैरयिकों में उत्पन्न होता हुआ नारकी क्या अर्ध भाग से, अर्ध भाग आश्रित करके उत्पन्न होता है, अर्धभाग से सर्वभाग आश्रित करके उत्पन्न होता है, सर्वभाग से अर्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है अथवा सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन होता है ?

उत्तर—गौतम ! जैसे पहले वालों के साथ आठ दंडक कहे हैं, उसी प्रकार अर्ध के साथ भी आठ दंडक कहने चाहिए। विशेषता इतनी है कि—जहाँ 'एक भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है' ऐसा पाठ आए वहाँ 'अर्धभाग से अर्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है' ऐसा पाठ बोलना चाहिए। बस यही भिन्नता है। यह सब मिलकर सोलह दंडक होते हैं।

व्याख्यान

अब गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—भगवन् ! नारकी [illegible] उत्पन्न होते हैं ? भगवान् ने उत्तर दिया—[illegible] उत्पन्न होता है ऐसा समझना चाहिए।

सकता है और सब से सर्व भाग भी हो सकता है इस प्रकार पूर्वोक्त आठ और यह आठ दंडक मिलकर सब सोलह दंडक होते हैं।

पहले एक देश (अवयव) संबंधी प्रश्न किया जा चुका था फिर यहाँ आधे के विषय में क्यों प्रश्न किया गया ? इसका उत्तर यह है कि देश और आधे में बहुत अन्तर है। मूंग में सैकड़ों देश (अवयव) हैं। उसका छोटे से छोटा टुकड़ा भी देश ही कहलाएगा, किन्तु बीचोंबीच से दो हिस्से होने पर ही आधा भाग कहलाता है। इस प्रकार जीव के दो टुकड़े हों और एक टुकड़ा अलग हो और दूसरा न हो, यह नहीं हो सकता। यही बतलाने के लिए यह प्रश्नोत्तर किया गया है कि आत्मा के देश या आधा हिस्सा नहीं हो सकता। आत्मा अछेद्य है। गीता में भी कहा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥

अर्थात्—इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी भिगो नहीं सकता और हवा सुखा नहीं सकती।

इस प्रकार आत्मा के टुकड़े नहीं होते। [illegible]

में कोई भी ऐसी नहीं है, जो हो मगर न रहे। जो आज है, वह सदैव थी और सदैव रहेगी। कभी वह मिट नहीं सकती। धूल का एक कण भी कभी सर्वथा अभाव रूप नहीं हो सकता।

गीता में कहा है--

नासततो विद्यते भावः, नाभावो जायते सतः।

अर्थात्–जो चीज़ है, वह कभी 'नहीं' में नहीं बदल सकती और जो नहीं है, वह कभी हो नहीं सकती।

उदाहरण के लिए पानी के एक बूंद को ही समझिए। स्थूल दृष्टि से यह समझा जाता है कि जल का एक बिन्दु सूख कर सदा के लिए असत्--नास्ति रूप बन जाता है मगर यह समझ सही नहीं है। वह अपने मूल तत्त्व में जाकर मिल जाता है। पदार्थों का सदैव परिवर्त्तन होता रहता है। कभी घड़े से मिट्टी बनती है, कभी मिट्टी से घड़ा बनता है। इस प्रकार जब [illegible] कण–कण भी नहीं मिटता तो अनादि काल से सुख–दुःख भोगने वाला यह आत्मा कैसे नष्ट हो सकता है? अतएव आत्मा है और वह सदैव के लिए है।

घर का आदमी जब मर जाता है, तो लोग शोक में [illegible] करते हैं, मानो वह कहीं रहा ही नहीं है। किन्तु [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

अब रोने से क्या लाभ है? रोने से क्या वह लौट आएगा? नहीं, तो उस एक के पीछे अपना भी बिगाड़ क्यों करते हो? आर्त-ध्यान करके क्यों कर्मबंध करते हो? उदाहरणार्थ—मान लीजिए, एक वृक्ष में दो डालियाँ हैं। पाला (हीम) पड़ने के कारण उनमें से एक डाली जल गई। एक हरी रही। इसके अनन्तर ही वसन्त ऋतु आई। तब हरी डाली में फूल-पत्ते आएँगे या सूखी डाली में?

'हरी में!'

उस समय हरी डाली को पुष्प-पत्रों से सुशोभित होना चाहिए या अपनी साथिन के रंज में सूख जाना चाहिए?

'हरी होना चाहिए!'

जिस प्रकार एक डाली के सूख जाने पर दूसरी डाली नहीं सूखती, उसी प्रकार, ज्ञानीजन कहते हैं—एक की मृत्यु हो जाने पर तुम क्यों अपना [illegible] बिगाड़ करते हो? क्या तुम डाली से भी गये-गुजरे हो?

आप यह कहते हैं कि डाली अज्ञानी है, इस लिए वह नहीं रोई, क्योंकि विवेक ज्ञान के बिना दुःख-शोक नहीं होता [illegible]

दी जब आत्मा का नाश किया जाए? आग लगाने वाला मूर्ख होता है, जो उसे शान्त करता है वह बुद्धिमान कहलाता है। जो रोना बढ़ावे वह अज्ञान है और जिससे रोना कम हो वही ज्ञान है।

ऐसा ज्ञान शास्त्र से प्राप्त होता है। और आत्मा की नित्यता का प्रतिपादन करने के लिए ही शास्त्र में नारकी आदि जीवों की दशा तथा वेदनाओं की विवेचना की गई है।

विग्रहगति और देवच्यवन

मूलपाठ—

प्रश्न—जीवेणं भंते ! किं विग्गहगइसमावण्णए, अविग्गहइसमावण्णए ?

उत्तर—गोयमा ! सिय विग्गहगइसमावण्णगे, सिय अविग्गहगइसमावण्णगे, एवं जाव वेमाणिए।

प्रश्न—जीवाणं भंते ! किं विग्गहगइसमावण्णया, अविग्गहगइसमावण्णया ?

उत्तर—गोयमा ! विग्गहगइसमावन्नगा वि, अविग्गहगइसमावन्नगा वि।

प्रश्न—नेरइया णं भंते ! किं विग्गहगइ

समावन्नगा, अविग्गहगइसमावन्नगा ?

उत्तर—गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज अविग्गहगइसमावन्नगा। अहवा अविग्गहगति समावन्नगा, विग्गहगइसमावन्नगे य। अहवा अविग्गहगइसमावन्नगा य, विग्गहगइसमाव न्नगा य। एवं जीव-एगिंदियवज्जो तियभंगो।

प्रश्न—देवे णं भंते! महिड्ढिए, महज्जुइए, महब्बले, महायसे, महेसक्खे, महाणुभावे अवि उक्कंतियं चयमाणे किंचिकालं हिरिवत्तियं, दुगुंछावत्तियं, परिसहवत्तियं आहारं नो आहारेइ अहेणं आहारेइ, आहारिज्जमाणे आहारिए, परिणामिज्जमाणे परिणामिए, पहीणे य आउए भवइ। जत्थ उववज्जइ तं आउयं पडिसंवेदेइ तं तिरिक्खजोणियाउयं वा, मणुस्साउयं वा ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! देवे णं महिड्ढिए

प्रश्न—भगवन् ! नारकी जीव विग्रहगति को प्राप्त हैं या अविग्रहगति को प्राप्त हैं ?

उत्तर—गौतम ! सभी अविग्रहगति को प्राप्त हैं । अथवा बहुत से अविग्रहगति को प्राप्त हैं और कोई-कोई विग्रहगति को प्राप्त है । अथवा बहुत से अविग्रहगति को प्राप्त हैं और बहुत से विग्रहगति को प्राप्त हैं । इसी प्रकार सब जगह तीन २ भंग समझना । सिर्फ जीव (सामान्य) और एकेन्द्रिय में तीन भंग नहीं कहना ।

प्रश्न—भगवन् ! महान् ऋद्धि वाला, महान् द्युति वाला, महान् बल वाला, महाकीर्ति वाला, महासामर्थ्य वाला मरण-काल में च्यवने वाला महेश नामक देव लज्जा के कारण, घृणा के कारण, परीषह के कारण कुछ समय तक आहार नहीं करता । फिर आहार करता है और किया हुआ आहार परिणत भी होता है, और अन्त में उस देव की आयु सर्वथा नष्ट हो जाती है, इसलिए वह देव जहाँ उत्पन्न होता है वहाँ की आयु भोगता है । तो हे भगवन् ! वह आयु तिर्यंच का समझा जाय या मनुष्य का समझा जाय ?

उत्तर — गौतम! उस महाऋद्धि वाले देव का यावत् मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का भी आयुष्य भी समझना चाहिए।

व्याख्यान—

आना-जाना, गमनागमन से होता है, अतः अब गौतम स्वामी गमन-आगमन के विषय में प्रश्न करते हैं। गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! जीव विग्रहगति वाला होता है या अविग्रहगति वाला होता है? भगवान् उत्तर देते हैं—जीव विग्रहगति वाला भी होता है और अविग्रहगति वाला भी होता है। अर्थात् जीव में दोनों प्रकार की अवस्थाएं हो सकती हैं।

वाला समझना चाहिए। अविग्रहगति वाले के यहां दोनों अर्थ विवक्षित हैं, ऐसा टीकाकार कहते हैं। यद्यपि प्राचीन टीकाकार ने अविग्रहगति का अर्थ सिर्फ सीधी (बिना मोड़ वाली) गति ही लिया है, मगर ऐसा लेने से और अविग्रहगति का अर्थ उद्वर्त्तना न करने से नारकी जीवों में अविग्रहगति वालों की जो वक्तव्यता बतलाई है, वह संगत नहीं बैठ सकेगी।

शास्त्रकारों ने जीव की विग्रह और अविग्रह अर्थात् टेढ़ी और सीधी—इस तरह दो प्रकार की गति बतलाई है। यद्यपि इस कथन में अनेक बड़े-बड़े रहस्य छिपे हैं, किन्तु बहुत सूक्ष्म बातें न बतलाकर कुछ स्थूल बातें ही आपको बतलाता हूं। यह तो सभी जानते हैं कि चित्त की गतियां, टेढ़ी, और सीधी—दो प्रकार की हैं। अपने मन की किस समय, कौनसी गति होती है, यह पहचानना भी अपने लिए कठिन कार्य है तो दूसरे के मन की गति तो समझ ही कैसे जा सकती है?

कई लोग चित्त की चंचलता से [illegible] बैठ जाते हैं और इसी में अपना कल्याण समझते हैं, किन्तु ऐसा [illegible] है। [illegible] चित्त को रोकने का [illegible] [illegible] होना चाहिए। [illegible] [illegible] छोड़कर इसकी [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible]

काम बतलाना शुरू किया। खेत जोतना, बोना, मकान बनाना, भोगोपभोग की सामग्री प्रस्तुत करना, आदि सभी कार्य उसने बात की बात में पूरे कर दिये। यह सब काम पूरे करके भूत ने कहा-अब क्या करना है ? काम बताओ, नहीं तो तुम्हें खाता हूँ।

किसान ने घबराकर कहा-भाई, थक गये होओगे। अब कुछ देर विश्राम कर लो; फिर काम बतला दूंगा।

भूत-अगर कोई काम न बतलाया तो मैं अपने नियम के अनुसार अभी तुम्हें खा जाऊँगा।

किसान सकपकाया। सोचने लगा-इसकी अपेक्षा तो मैं पहले ही अच्छा था। उस समय यह बला तो नहीं थी। अब इससे किस प्रकार पिंड छुड़ाया जाय ! क्यों न उन्हीं सिद्ध पुरुष की सेवा में जाऊँ और उन्हीं से अपनी रक्षा की भिक्षा मांगूं।

उसने भूत से कहा-तू मेरे पीछे-पीछे चल, अभी नया काम बताता हूँ। इस प्रकार दोनों सिद्ध पुरुष के पास पहुँच कर सिद्ध पुरुष से किसान ने कहा-महाराज ! आप अपना भूत सम्हालिए ! [illegible] इसको ! कहाँ तक इसे काम बताऊं ? अगर अभी न [illegible] बताया तो मुझे खा जायगा ! ऐसे भूत से मुझे [illegible] नहीं [illegible] जो [illegible] मुझे खा जाय !

सिद्ध ने किसान को [illegible] देते हुए कहा—भाई, [illegible] [illegible] ऐसा [illegible] [illegible] [illegible]। किसान ने सिद्ध

गर्भ शास्त्र

मूलपाठ—

प्रश्न—जीवे णं भंते! गब्भं वक्कममाणे किं सइंदिए वक्कमइ, अणिंदिए वक्कमइ?

उत्तर— गोयमा! सिय सइंदिए वक्कमइ, सिय अणिंदिए वक्कमइ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं? भंते एवं वुच्चइ सिय सइंदिए वक्कमइ सिय अ०?

उत्तर—गोयमा! दव्विंदियाइं पडुच्च अणिंदिए वक्कमइ, भाविंदियाइं पडुच्च सइंदिए वक्कमइ। से तेणट्ठेणं०।

प्रश्न—जीवे णं भंते! गब्भं वक्कममाणे किं ससरीरी वक्कमइ, असरीरी वक्कमइ?

उत्तर—गोयमा ! सिय ससरीरी वक्कमइ, सिय असरीरी वक्कमइ ।

प्रश्न—से केणट्ठेण ?

उत्तर—गोयमा ! ओरालिय-वेउव्विय-आहारयाइं पडुच्च असरीरी वक्कमइ, तेया-कम्माइं पडुच्च ससरीरी वक्कमई, से तेणट्ठेणं गोयमा० !

प्रश्न—जीवे णं भंते ! गब्भं वक्कममाणे तप्पढमयाए किं आहारं आहारेइ ?

उत्तर—गोयमा ! माउओयं, पिउसुक्कं तं तदुभयसंसिट्ठं कलुसं, किब्बिसं तप्पढमयाए आहारं आहारेइ ।

प्रश्न—जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे किं आहारं आहारेइ ?

उत्तर—गोयमा! जं से माया नाणाविहाओ रसविगतीओ आहारं आहारेइ, तदेकदेसेणं ओयं आहारेइ।

प्रश्न—जीवस्स णं भंते! गब्भगयस्स समाणस्स अत्थि उच्चारेइ वा, पासवणे इ वा, खेले इ वा, सिंघाणे इ वा, वंते इ वा, पित्ते इ वा?

उत्तर—णो इणट्ठे समट्ठे।

प्रश्न—से केणट्ठेणं?

उत्तर—गोयमा! जीवे णं गब्भगए समाणे जं आहारेइ तं चिणइ, तं सोइंदियत्ताए जाव-फासिंदियत्ताए, अट्ठि अट्ठि-मिंज-केस-मंसु-रोम-नहत्ताए, से तेणट्ठेणं०।

प्रश्न—जीवे णं भंते! गब्भगए समाणे पभू मुहेणं कावलियं आहारं आहारित्तए?

उत्तर—गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं ?

उत्तर—गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे सव्वओ आहारेइ, सव्वओ परिणामेइ, सव्वओ ऊससइ, सव्वओ निस्ससइ, अभिक्खणं आहारेइ, अभिक्खणं परिणामेइ, अभिक्खणं ऊससइ, अभिक्खणं निस्ससइ, आहच्च आहारेइ, आहच्च परिणामेइ, आहच्च ऊससइ, आहच्च निस्ससइ, माउजीवरसहरणी, पुत्तजीवरसहरणी माउजीव पडिबद्धा, पुत्तजीव फुडा तम्हा आहारेइ तम्हा परिणामेइ, अवरा वि य णं पुत्तजीव पडिबद्धा माउजीव फुडा तम्हा चिणाइ, तम्हा उवचिणाइ, से तेणट्ठेणं जाव नो पभू मुहेणं कावलियं आहारं आहारित्तए ।

संस्कृत-छाया

प्रश्न-जीवो भगवन् ! गर्भं व्युत्क्रामन् किं सेन्द्रियो व्युत्क्रामति अनिन्द्रियो व्युत्क्रामति ।

उत्तर—गौतम ! स्यात् सेन्द्रियो व्युत्क्रामति, स्यात् अनिन्द्रियो व्युत्क्रामति ।

प्रश्न—तत्केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! द्रव्येन्द्रियाणि प्रतीत्य अनिन्द्रियो व्युत्क्रामति, भावेन्द्रियाणि प्रतीत्य सेन्द्रियो व्युत्क्रामति । तत्तेनार्थेन ।

प्रश्न—जीवो भगवन् ! गर्भं व्युत्क्रामन् किं सशरीरी व्युत्क्रामति, अशरीरी व्युत्क्रामति ?

उत्तर—गौतम ! स्यात् सशरीरी व्युत्क्रामति, स्यात् अशरीरी व्युत्क्रामति ।

प्रश्न—तत्केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! औदारिक-वैक्रिय-आहारकाणि प्रतीत्य अशरीरी व्युत्क्रामति, तैजस-कार्मणानि प्रतीत्य सशरीरी व्युत्क्रामति । तत्तेनार्थेन गौतम !

उत्तर—गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! जीवो गर्भगतः सन् सर्वत आहारयति, सर्वतः परिणामयति, सर्वतः उच्छ्वसति, सर्वतः निःश्वसति, अभिक्ष्णम् आहारयति, अभिक्ष्णम् परिणामयति, अभिक्ष्णम् उच्छ्वसति, अभिक्ष्णम् निःश्वसति । आहत्य आहारयति, आहत्य परिणामयति, आहत्य उच्छ्वसति, आहत्य निःश्वसति, मातृजीवरसहरणी, पुत्रजीवरसहरणी, मातृजीवप्रतिबद्धा पुत्रजीवस्पृष्टा, तस्माद् आहारयति, तस्मात् परिणामयति, अपराऽपि च पुत्रजीवप्रतिबद्धा मातृजीवस्पृष्टा तस्मात् चिनोति, तस्मात् उपचिनोति, तत् तेनार्थेन यावत्—नो प्रभुर्मुखेन कावलिकम् आहारम् आहर्तुम् ।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! गर्भ में उत्पन्न होता हुआ जीव क्या इन्द्रिय वाला उत्पन्न होता है या बिना इन्द्रिय का उत्पन्न होता है ?

उत्तर—गौतम ! इन्द्रिय वाला भी उत्पन्न होता है और बिना इन्द्रिय का भी उत्पन्न होता है ।

प्रश्न—भगवन् ! गर्भ में गया हुआ जीव क्या खाता है ?

उत्तर—गौतम ! गर्भ में गया जीव, माता द्वारा खाये हुए अनेक प्रकार के रसविकारों के एक भाग के साथ माता का आर्तव खाता है ।

प्रश्न—भगवन् ! गर्भ में गया जीव के मल होता है ? मूत्र होता है ? कफ होता है ? नाक का मैल होता है ? वमन होता है ? पित्त होता है ?

उत्तर—गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है—यह सब नहीं होता है ।

प्रश्न—भगवन् ! सो कैसे ?

उत्तर—गौतम ! गर्भ में जाने पर जीव जो आहार खाता है जिस आहार का चय करता है, उस आहार को श्रोत्र के रूप में यावत् स्पर्शेन्द्रिय के रूप में, हड्डी के रूप में, मज्जा के रूप में, बाल के रूप में, दाढ़ी के रूप में, रोमों के रूप में और नखों के रूप में परिणत करता है । इस लिए, हे गौतम ! गर्भ में गये जीव के मल आदि नहीं होते ।

करता है और उपचय करता है। हे गौतम ! इस कारण गर्भ-गत जीव मुख द्वारा कवल रूप आहार लेने में समर्थ नहीं है।

व्याख्यान–

पहले विग्रहगति का विचार किया गया था। विग्रहगति एक दो, तीन या कभी–कभी चार समय में समाप्त हो जाती है। इस व्यवधान में ही जीव पहले का शरीर छोड़कर नये उत्पत्तिस्थान पर पहुँचने समय अर्थात् गर्भ में प्रवेश करते समय और गर्भ में रहते समय जीव की क्या स्थिति होती है, इस विषय में गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किये हैं। अब इन्हीं पर विचार किया जाता है।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! गर्भ में उत्पन्न होने वाले जीव के इन्द्रियाँ होती हैं या नहीं होतीं ?

इन्द्रिय का अर्थ कान, नाक, आँख, जीभ और त्वचा है। इन्हीं के विषय में यहाँ प्रश्न किया गया है। [illegible]

गौतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—हे गौतम ! किसी अपेक्षा से जीव इन्द्रिय-सहित गर्भ में आता है, और किसी अपेक्षा से इन्द्रिय रहित गर्भ में आता है । अर्थात् द्रव्येन्द्रियों की अपेक्षा इन्द्रिय रहित आता है और भाव-इन्द्रियों की अपेक्षा इन्द्रिय-सहित आता है । गर्भ में आते समय जीव के द्रव्येन्द्रियां नहीं होतीं, भावेन्द्रियां होती हैं ।

अब यह भी देख लेना चाहिए कि द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय किसे कहते हैं ? निर्वृत्ति और उपकरण, यह द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं । जो भाव को ग्रहण करे उसे द्रव्येन्द्रिय कहते हैं । द्रव्येन्द्रिय पौद्गलिक रचना विशेष है । द्रव्येन्द्रिय में एक उपकरण है, एक निर्वृत्ति है । कान की अमुक आकृति निर्वृत्ति कहलाती है । उसका सहायक उपकरण कहलाता है । किसी के कान एक प्रकार के और किसी के दूसरे प्रकार के होते हैं । छोटे और बड़े दोनों प्रकार के कानों से सुनाई देता है किन्तु कान की बनावट में आकृति का अंतर होता है । आंख और नाक के भी [illegible] और प्रकार [illegible] के कानों की कुछ और ही प्रकार [illegible]

भावेन्द्रिय के भी दो भेद हैं-लब्धि और उपयोग। लब्धि का अर्थ है-शक्ति जिसके द्वारा आत्मा, शब्द का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है, उसे लब्धि-इन्द्रिय कहते हैं। मगर लब्धि होने पर भी अगर उपयोग न हो तो काम नहीं चल सकता। उपयोग के अभाव में सुनना न सुनना बराबर है। योग्यता अर्थात् लब्धि तो हो मगर उपयोग न हो तो लब्धि बेकार है। लब्धि के होते हुए भी उपयोग लगाने से ही काम चलता है। लब्धि का अर्थ ग्रहण करने का सामर्थ्य और उपयोग का अर्थ ग्रहण करने का व्यापार है। इन दोनों भावेन्द्रियों के साथ जीव गर्भ में आता है।

जीव गर्भ में भावेन्द्रिय-सहित आता है, इस बात का विश्वास कराने के लिए उसका कारण भी बतलाते हैं। अगर द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय—दोनों ही गर्भ में उत्पन्न मान ली जाएँ तो फिर आत्मा सिद्ध नहीं हो सकेगा। अगर आत्मा पहले का और परलोक से आने के आया हुआ माना जाय तो फिर यह भी मानना होगा कि वह परलोक से कुछ लेकर आता है। [illegible]

अभिमान नहीं है तो ऐसा ही मानना रह। आज तू पढ़-लिखकर भी दूसरे आडम्बर में पड़ रहा है और इस नजदीकी सत्य को भूल रहा है।

विज्ञान वेत्ता कहते हैं—बारह वर्ष में शरीर पलट जाता है अर्थात् शरीर के सब परमाणु बदल जाते हैं। यह कथन किसी अपेक्षा से ठीक हो, तो भी शास्त्र का यह कथन सत्य ही है कि जब तक भवधारणीय शरीर है, तब तक माता-पिता सम्बन्धी ही शरीर है।

शास्त्रकार ने यह बात इस लिए स्पष्ट कर दी है कि कोई मनुष्य हृष्ट पुष्ट हो कर या बारह वर्ष के पश्चात् ऐसा न मान ले कि अब माता-पिता सम्बन्धी शरीर नहीं रहा।

कोई कह सकता है कि माता-पिता का दिया शरीर दुबला था। अब हम मोटे हैं। इस लिए यह शरीर अब माता-पिता का कहाँ रहा? ऐसा कहने वाले का विचार भ्रमपूर्ण है। गर्भ में माता-पिता की धातुओं का जो आहार लिया था, उस शरीर को आहार की बदौलत है। इस शरीर के अन्दर वही आहार जीवन है। इसी पर यह सारा ढांचा खड़ा है। यह न हो तो जीवन भी न होता। माता-पिता की धातुओं के जो आहार लिया है, वह आहार शरीर के अन्त तक रहता है, [illegible]

है और तभी तक जीवन भी है वह आहार धीरे-धीरे समाप्त होने लगता है। जब वह समाप्त होने लगता है, तब इधर से आयु भी समाप्त होने लगती है। परिणाम यह होता है कि यह शरीर भी नहीं रहता।

यहाँ नास्तिक कह सकते हैं कि आखिर हमारी ही बात रही। हम कहते हैं—यह शरीर भूतों से बना हुअ है और भूतों के बिखर जाने पर नष्ट हो जाता है। यही बात जैन शास्त्र भी कहते हैं। जैन शास्त्र में भी यही बतलाया गया है कि शरीर रज और वीर्य से बना हुआ है, जब रज-वीर्य समाप्त हो जाता है, तब शरीर भी मर जाता है। जैन शास्त्र जिसे रज-वीर्य कहता है और हम उसे पंचभूत कहते हैं। अन्तर सिर्फ नाम का है। तत्त्व तो दोनों जगह समान है। हम कहते हैं—न कोई परलोक से आता है, न कोई परलोक जाता है। अगर परलोक से कोई आता होता तो वह स्वतंत्र होता, लेकिन जैन शास्त्रों के कथन से भी वह स्वतंत्र तो रहा नहीं, किन्तु रज और वीर्य के अधीन रहा। इस प्रकार जैन शास्त्र भी प्रकारान्तर से हमारी ही बात का समर्थन करते हैं।

इसके उत्तर में यह पूछा जा सकता है कि जो माता-पिता की धातुओं का आहार लेता है, वह आहार लेने वाला है कौन? उस आहार लेने वाले को क्यों भूले जा रहे हो?

झाड़, पृथ्वी और पानी का संयोग लेता है, तो क्या पृथ्वी और पानी का संयोग ही झाड़ है ? अगर झाड़ ही नहीं होगा तो पृथ्वी और पानी के संयोग को ग्रहण कौन करेगा ? इसी प्रकार जब स्वतंत्र आत्मा है तभी तो वह माता-पिता की धातुओं से आहार लेता है। अगर आत्मा न होता तो आहार कौन लेता ? उसने शरीर बाँधा है, इसी से भूतों की भी सहायता ली है और जब शरीर की सहायता का त्याग करता है तो भूतों की सहायता का भी त्याग कर देता है। मगर यह सब कुछ करने वाला है आत्मा ही। आत्मा के अभाव में इतना सब कौन करता ?

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि माता-पिता के शरीर से लिया हुआ आहार जब तक रहता है, तब तक जीवन भी रहता है, तो फिर लोग अकाल मृत्यु से क्यों मरते हैं ? जितने दिनों के लिए आहार शरीर में है, उतने दिनों तक जीवन रहना ही चाहिए बीच में मृत्यु कैसे हो सकती है ? माता-पिता की धातुओं का लिया हुआ आहार बीच में क्यों समाप्त हो जाता है ?

इस प्रकार की आशंका के कारण बहुतों ने यह मान लिया है कि जीना-मरना किसी के हाथ में नहीं है। जितनी आयु है, उतने ही दिन जीव जीयेगा। इसलिये किसी जीव को मौत से बचाने से क्या लाभ है ? चाहे कोई रोगी रहे या निरोग रहे,

संयत आहार-विहार करे या असंयत आहार-विहार करे, जीयेगा उतना ही, जितना आयुष्य है।

ऐसा समझने वाले लोगों की बुद्धि की सावधानी नष्ट हो गई है। अगर किसी भी जीव की मृत्यु अकाल में नहीं हो सकती तो तलवार से टुकड़े-टुकड़े कर देने पर भी किसी की मृत्यु नहीं होनी चाहिए फिर तो यह भी न मानना होगा कि किसी के आघात से कोई जीव मर जाता है। यदि बचाने से कोई जीव बच नहीं सकता तो मारने से मरना भी नहीं चाहिए। ऐसी अवस्था में हिंसा हो ही नहीं सकती। कल्पना कीजिए, एक आदमी ने तलवार द्वारा दूसरे को मार डाला। जब मारने वाले पर अभियोग चला तो अपनी सफाई में वह कहता है— 'मरने वाले की आयु जितनी थी, वह उतना जीवित रहा। आयु समाप्त होने पर वह मर गया।' तो क्या सरकार उसे छोड़ देगी? कदाचित् कहने लगे कि राज्य का कानून अपूर्ण है, इस लिए यह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, तो शास्त्रीय नीति तो पूर्ण है। उस में हिंसा को पाप क्यों कहा है? और समस्त संसार के शास्त्र इस विषय में एकमत क्यों हैं? अगर अकाल में किसी की मृत्यु नहीं होती तो फिर शरीर-विषयक ... रखने की और दवा लेने की क्या आवश्यकता है? फिर ... के साथ चिकित्सा शास्त्र भी निराधार ठहरता है।

शास्त्र कहता है कि आयुष्य, दीपक के तेल के समान है। दीपक में रात भर के लिए जो तेल भरा हुआ है, उस में अगर एक बत्ती डाल कर जलाओगे तो रात भर प्रकाश देगा, लेकिन अगर उस में चार बत्तियाँ डाल दो तो भी क्या वह रात भर प्रकाश देगा ?

'नहीं !'।

इसी प्रकार आयुकर्म के पुद्गल खूटते (समाप्त) होते हैं, परन्तु यदि सावधानी से काम लो तो आयु और माता-पिता सम्बन्धी आहार पूरे समय तक काम देंगे, अन्यथा बीच में ही खूट जाएँगे।

यह बात मैं अपनी तरफ से नहीं कहता। शास्त्र में कहा है—

अज्झवसाणनिमित्ते आहारे वेयणा—पराघाए।
फासे आणापाणू, सत्तविहं छिज्जए आऊ॥

अर्थात्—आयु का क्षय सात प्रकार से होता है—(१) भयंकर वस्तु का विचार आने से (२) शस्त्र आदि निमित्त से (३) विषैले पदार्थों के आहार से या आहार के दीर्घकालीन निरोध से (४) शारीरिक वेदना से (५) गड़हे में गिरने आदि से (६) सर्प आदि के स्पर्श-दंश-से और (७) श्वासोच्छ्वास की रुकावट से।

संयत आहार-विहार करे या असंयत आहार-विहार करे, जीयेगा उतना ही, जितना आयुष्य है।

ऐसा समझने वाले लोगों की बुद्धि की सावधानी नष्ट हो गई है। अगर किसी भी जीव की मृत्यु अकाल में नहीं हो सकती तो तलवार से टुकड़े-टुकड़े कर देने पर भी किसी की मृत्यु नहीं होनी चाहिए फिर तो यह भी न मानना होगा कि किसी के आघात से कोई जीव मर जाता है। यदि बचाने से कोई जीव बच नहीं सकता तो मारने से मरना भी नहीं चाहिए। ऐसी अवस्था में हिंसा हो ही नहीं सकती। कल्पना कीजिए, एक आदमी ने तलवार द्वारा दूसरे को मार डाला। जब मारने वाले पर अभियोग चला तो अपनी सफाई में वह कहता है—'मरने वाले की आयु जितनी थी, वह उतना जीवित रहा। आयु समाप्त होने पर वह मर गया।' तो क्या सरकार उसे छोड़ देगी? कदाचित् कहने लगे कि राज्य का कानून अपूर्ण है, इस लिए वह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, तो शास्त्रीय नीति तो पूर्ण है। उस में हिंसा को पाप क्यों कहा है? और समस्त संसार के शास्त्र इस विषय में एकमत क्यों हैं? अगर अकाल में किसी की मृत्यु नहीं होती तो फिर शरीर-विषयक सावधानी रखने की और दवा लेने की क्या आवश्यकता है? फिर तो धर्मशास्त्र के साथ चिकित्सा शास्त्र भी निराधार ठहरता है।

शास्त्र कहता है कि आयुष्य, दीपक के तेल के समान है। दीपक में रात भर के लिए जो तेल भरा हुआ है, उस में अगर एक बत्ती डाल कर जलाओगे तो रात भर प्रकाश देगा, लेकिन अगर उस में चार बत्तियाँ डाल दो तो भी क्या वह रात भर प्रकाश देगा ?

'नहीं !'।

इसी प्रकार आयुकर्म के पुद्गल खूटते (समाप्त) होते हैं, परन्तु यदि सावधानी से काम लो तो आयु और माता-पिता सम्बन्धी आहार पूरे समय तक काम देंगे, अन्यथा बीच में ही खूट जाएँगे।

यह बात मैं अपनी तरफ से नहीं कहता। शास्त्र में कहा है—

अज्झवसाणनिमित्ते आहारे वेयणा—पराधाए ।
फासे आणापाणू, सत्तविहं छिज्जए आऊ ॥

अर्थात्—आयु का क्षय सात प्रकार से होता है—(१) भयंकर वस्तु का विचार आने से (२) शस्त्र आदि निमित्त से (३) विषैले पदार्थों के आहार से या आहार के दीर्घकालीन निरोध से (४) शारीरिक वेदना से (५) गड्हे में गिरने आदि से (६) सर्प आदि के स्पर्श-दंश-से और (७) श्वासोच्छ्वास की रुकावट से।

ठाणांगसूत्र के टीकाकार स्वयं एक प्रश्न उठाते हैं कि आयु का कम हो जाना या अधिक समय तक चलना, यह तो अनियमितता और अनहोनी बात होगी ? इसका समाधान भी स्वयं वही करते हैं कि यह कोई अनहोनी बात नहीं है। आयु दो प्रकार से छूटता है-एक तो कायदे से, दूसरे बेकायदे। उदाहरणार्थ-सो हाथ लम्बी रस्सी को अगर एक सिरे से जलाया जाय तो वह बहुत देर में जलेगी, अगर उसे समेट कर जलाया जाय तो वह बहुत जल्दी जल जायगी। यही बात आयुकर्म की भी है।

आयु जल्दी और देर में किस प्रकार समाप्त होता है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध किया जा सकता है। भारतियों और अमेरिकनों के औसत आयु में भेद क्यों है ? सुना है, अमेरिका-निवासियों की औसत आयु साठ-सत्तर वर्ष के लगभग है, और भारतियों की चौवीस वर्ष के लगभग ही। इस प्रकार भारतीय अल्प अवस्था में ही क्यों मर जाते हैं ? इस का कारण यही है कि भारतियों का रहन-सहन अनियमित और भोजन-पान जीवन वर्धक नहीं है, जब कि अमेरिकनों का ऐसा है। आप अपना जीवन किस प्रकार विता रहे हैं, यह आप नहीं जानते।

अभिप्राय यह है कि आयु रस्सी, तेल या कपड़े के समान है। उस का उपयोग सावधानी से करोगे तो अधिक दिन

टिकेगी, नहीं तो बीच में ही नष्ट हो जायगी । सावधानी से उपयोग करते हुए भी किसी अन्य कारण से अगर बीच ही में मृत्यु आ जावे तो उससे भय मत करो । मरने से डरना बुद्धिमानी नहीं है और मरने से न डर कर सावधानी न रखना भी बुद्धिमानी नहीं है । असल में जीवन-मरण के विषय में मध्यस्थ-भाव रखने से ही शान्ति मिलती है ।

प्रारम्भ की चीज़ का संस्कार अन्त तक रहता है, यह किसे नहीं मालूम है ? आम की गुठली से झाड़ पैदा होता है, जिस में मोटा ताजा और बड़ी-बड़ी डालियां होती हैं। लेकिन उस बड़े झाड़ में भी अंकुर और बीज का धर्म रहता ही है । वह तभी जाता है, जब झाड़ समूल नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार माता-पिता की धातुओं का जो आहार गर्भ में लिया है, वह उम्र भर रहता है । उस आहार का संस्कार छूटा और प्राण गया ।

आप के माँ-बाप मनुष्य थे, इसी से आप भी मनुष्य हुए हैं । यदि वह जानवर होते तो आप भी जानवर होते । यानी आप को मनुष्यत्व देने वाले आप के माँ-बाप हैं । उन्हों ने आप को मनुष्य बनाया है और उनकी दी हुई मनुष्यता-जीवन के अन्त तक कायम रहेगी । आप बीच में पशु मत बनो-पशुओं का-सा व्यवहार मत करो ।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! जीव जब माता

के गर्भ में होता है, तब उसे मल, मूत्र, कफ, नाक का मैल (सेड़ा), वमन (कै) और पित्ता होता है या नहीं होता? इस का उत्तर भगवान् देते हैं—हे गौतम! ऐसी बात नहीं है। अर्थात् गर्भस्थ जीव के मल-मूत्र आदि नहीं होते। गौतम स्वामी इसका कारण पूछते हैं–भगवन्! इसका क्या कारण है? हम लोग तो आहार करते हैं, उससे मल-मूत्र आदि भी बनते हैं, तो गर्भ में रहे हुए जीव के आहार से भी मल-मूत्र बनने चाहिए। मगर आप उन का निषेध करते हैं, सो इस का क्या कारण है?

भगवान्! उत्तर देते है–गौतम! गर्भस्थ जीव जो आहार खाता है, वह सब उसकी इन्द्रियं आदि बनने के काम आता है। सारे आहार से उसके शरीर के विभिन्न भाग बनते हैं। इस लिए मल-मूत्र नहीं बनते।

गभस्थ जीव माता के रस का आहार करता है। रसभाग वही कहलाता है, जिससे खल भाग अलग हो गया हो। माता जो आहार करती है, वह दो रूपों में पलटता है–खल भाग में और रस भाग में। गर्भ का जीव रसभाग का ही आहार करता है, अतः उसके मल मूत्र आदि हो ही नहीं सकते।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्, हम लोग जैसे कवलाहार करते हैं अर्थात् ग्रास के रूपमें मुख द्वारा भोजन

करते हैं, क्या उसी प्रकार गर्भस्थ जीव भी कवलाहार करता है ? भगवान उत्तर देते हैं–गौतम, यह बात नहीं है । गर्भ में रहा हुआ जीव मुख द्वारा आहार–कवलाहार नहीं कर सकता । तब गौतम स्वामी पूछते हैं–प्रभो ! इसका कारण क्या है ? गर्भस्थ जीव कवलाहार क्यों नहीं करता ? भगवान् उत्तर देते हैं–हे गौतम ! गर्भ का जीव सारे शरीर से आहार लेता है, इस लिए वह कवलाहार नहीं कर सकता । वह जीव सम्पूर्ण शरीर से आहार करता है, सम्पूर्ण शरीर से उसे परिणमाता है, सम्पूर्ण शरीर से उच्छ्वास लेता है, सम्पूर्ण शरीर से निःश्वास लेता है । इसी प्रकार वह वार–बार आहार आदि लेता है और कदाचित् लेता है, कदाचित् नहीं भी लेता ।

गर्भ का जीव सारे शरीर से किस प्रकार आहार लेता है, उसका स्पष्टीकरण यह किया गया है कि एक मातृ जीव-रसहरणी नाली होती है । रसहरणी का अर्थ है, नाभि का नाल इस नाल द्वारा माता के जीव का रस ग्रहण किया जाता है । इस नाल का संबंध माता के शरीर के साथ होता है । इससे पुत्र को रस प्राप्त होता है । इसके सिवाय एक नाड़ी (नाल) और भी है जो पुत्र के जीव के साथ सम्बद्ध है और माता के जीव के साथ अटकी हुई है इस नाल द्वारा पुत्र का जीव आहार का चय और उपचय करता है । इसी कारण उसके कवलाहार नहीं होता ।

मूल पाठ-

प्रश्न—कइ णं भंते ! माइअंगा पन्नत्ता ?

उत्तर-गोयमा! तओ माइअंगा पन्नत्ता। तंजहा-मंसे, सोणिए, मत्थुलुंगे ।

प्रश्न—कइ णं भंते! पिइअंगा पन्नत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! तओ पिइ अंगा पन्नत्ता। तंजहा-अट्ठिं, अट्ठिमिंजा, केस-मंस-रोम-नहे।

प्रश्न—अम्मापिइए णं भंत्ते! सरीरए केवइयं कालं संचिट्ठइ ?

उत्तर—गोयमा! जवाइयं से कालं भव-धारणिज्जे सरीरए अव्वावन्ने भवइ एवतियं कालं संचिट्ठइ । अहे णं समए-समए वोयसिज्जमाणे,

वोयसिज्जमाणे चरमकालसमयंसि वोच्छिन्ने भवइ।

संस्कृत-छाया

प्रश्न—कति भगवन्! मात्रंगानि प्रज्ञप्तानि?

उत्तर—गौतम! त्रीणि मात्रंगानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा-मांसम्, शोणितम् मस्तुलुङ्गम्।

प्रश्न—कति भगवन्! पित्रङ्गानि प्रज्ञप्तानि?

उत्तर—गौतम! गौतम! त्रीणि पित्रङ्गानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा-अस्थि, अस्थिमज्जा, केश-श्मश्रु-रोम-नखः।

प्रश्न—अम्बापैतृकं भगवन्! शरीरं कियन्तं कालं संतिष्ठते?

उत्तर—गौतम! यावन्तं कालं तस्य भवधारणीयं शरीरम् अव्यापन्नं भवति एतावन्तं कालं संतिष्ठते। अथ समये समये व्यवकृष्टा-माणं--व्यवकृष्टामाणं चरमकालसमये व्युच्छिन्नं भवति।

मूलार्थ-

प्रश्न—भगवन्! माता के अंग कितने कहे हैं?

उत्तर—गौतम! माता के तीन अंग कहे हैं। वे इस प्रकार-मांस, रक्त और मस्तक का भेजा।

प्रश्न—भगवन् ! पिता के कितने अंग कहे हैं ?

उत्तर—गौतम ! पिता के तीन अंग कहे हैं । वे इस प्रकार-हड्डी, मज्जा और केश-दाढ़ी-रोम तथा नख ।

प्रश्न—भगवन् ! माता और पिता के अंग संतान के शरीर में कितने काल तक रहते हैं ?

उत्तर—गौतम ! संतान का भवधारणीय शरीर जितने समय तक रहता है, उतने समय तक वह अंग रहते हैं । और जब भवधारणीय शरीर समय-समय हीन होता जाता है और अन्त में जब नष्ट होता है, तब माता-पिता के अंग भी नष्ट हो जाते हैं ।

व्याख्यान-

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं, भगवन् ! सन्तान के शरीर में माता के कितने अंग हैं ?

उत्तर—गौतम सन्तान के शरीर में तीन अंग माता के हैं—यथा मांस, रक्त और मस्तक का भेजा ये तीन माता के शोणित से बने हुए हैं ।

प्रश्न—गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं, भगवन् ! जिस प्रकार माता के तीन अंग हैं उसी प्रकार पिता के कितने अंग हैं ।

भगवान् उत्तर फरमाते हैं—गौतम, पिता के भी तीन अंग हैं—हाड़ हाड़ की मिंझी और केश रोम—नख आदि—

शेष अंग सब माता एवं पिता दोनों के पुद्गलों से बने हुए हैं। इसलिये—शास्त्र कार कहते हैं कि माता पिता के उपकार से कभी ऊरण नहीं हो सकता यह शरीर उन्हीं माता पिता की देन है अतः मनुष्य को मात पिता का उपकार मानते हुए उनकी सेवा भक्ति करके उनका शुभाषिर्वाद प्राप्त करना ही हिता वह है। जो मनुष्य मातपिता की सेवा न करते हुए उन्हें दुख कष्ट देते हैं और उनके हृदय को चोट पहुंचाते है वे अपनी उन्नति नहीं कर सकते किन्तु जो सन्तान मातपिता की सेवा भक्ति करते हैं उनके चित्त को शान्ति पहुंचाते हैं, वे फलते-फूलते व अपना विकास करके संसार में यश प्राप्त करते हैं। वे धर्म भी सुगमता से प्राप्त कर उसके आराधक बन सकते हैं क्योंकि मनुष्य की जड़ मातपिता का हृदय है, वह जब तक हरा भरा बना रहता मनुष्य फलता-फूलता है, किन्तु जब मातपिता का हृदय दग्ध कर दिया जाता है तो मनुष्य भी सूख जावेगा। मनुष्य शरीर में मातपिता के अङ्गों का सम्बन्ध जिन्दगी तक रहता है इस विषय में गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि—

भगवन् मातपिता के अङ्ग सन्तान के शरीर में कितने काल तक बने रहते हैं।

उत्तर–गौतम ! सन्तान का शरीर जब तक कायम रहता है, यहां तक मातपिता के वे अङ्ग कायम रहते हैं समय २ वे पुद्गल छिजते हुए मातपिता का वह ओज समाप्त हो जाता है तभी मनुष्य भी कायम नहीं रहता, मर जाता है, अतः सन्तान को मातपिता के प्रति सदा वफादार रहना चाहिए।

मूल पाठ—

प्रश्न—जीवे णं भंते! गब्भगए समाणे नेरइएसु उववज्जेज्जा?

उत्तर—गोयमा! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा।

प्रश्न—से केणट्ठेणं?

उत्तर—गोयमा! से णं सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए, वीरियलद्धीए, वेउव्वियलद्धीए पराणीएणं आगयं सोच्चा निसम्म पएसे निच्छुभइ, निच्छुभित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, समोहणित्ता चाउरंगिणिं सेन्नं विउव्वइ, चाउरंगिणिं सेन्नं विउव्वित्ता चाउरंगि-

णीए सेणाए पराणीएणं सद्धिं संगामं संगामेइ। से णं जीवे अत्थकामए, रज्जकामए, भोगकामए, कामकामए, अत्थकंखिए, रज्जकंखिए, भोगकंखिए, कामकंखिए, अत्थपिवासए, रज्जपिवासए, भोगपिवासए, कामपिवासए, तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पियकरणे, तब्भावणभाविए, एयंसिणं अंतरंसि कालं करेज्ज नेरइएसु उववज्जइ। से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा।

प्रश्न— जीवेणं भंते! गब्भगए समाणे देवलोगेसु उववज्जेज्जा?

उत्तर—गोयमा? अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा।

प्रश्न—से केणट्ठेणं?

उत्तर—गोयमा ! से णं सन्नी पंचिदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा, निसम्म तओ भवइ संवेग जायसड्ढे, तिव्वधम्माणुरागरत्ते, से णं जीवे धम्मकामए, पुन्नकामए, सग्गकामए, मोक्खकामए, धम्मकंखिए, पुन्नकंखिए, सग्गकंखिए, मोक्खकंखिए, धम्मपिवासए, पुन्नपिवासए, सग्गपिवासए, मोक्खपिवासए, तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउरो, तदप्पियकरणे, तब्भावणाभाविए एयंसि णं अंतरंसि कालं करेज्ज देवलोगेसु उववज्जइ। से तेणट्ठेणं गोयमा !

संस्कृत-छाया

प्रश्न—जीवो भगवन् ! गर्भगतः सन् नैरयिकेषु उपपद्येत ?

उत्तर—गौतम ! अस्त्येकेक उपपद्येत, अस्त्येकको नोपपद्येत।

प्रश्न—तत् केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! स संज्ञी पञ्चेन्द्रियः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तिको वीर्यलब्ध्या, वैक्रियलब्ध्या, पराऽनीकम् आगतं श्रुत्वा, निशम्य प्रदेशान् निक्षिपति, निक्षिप्य वैक्रियसमुद्घातं समवहन्ति, समवहन्य चतुरङ्गिणीं सेनां विकुर्वति, चतुरङ्गिणीं सेनां विकुर्व्य चतुरङ्गिण्या सेनया पराऽनीकं सार्धं संग्रामं संग्रामयते। सजीवोऽर्थकामुकः, राज्य-कामुकः, भोगकामुकः, कामकामुकः, अर्थकांक्षी, राज्यकांक्षी, भोगकांक्षी, कामकांक्षी अर्थपिपासकः, राज्यपिपासकः, भोगपिपासकः, कामपिपासकः, तच्चित्तः, तन्मनाः, तल्लेश्य, तदध्यवसितः, तत्तीव्राध्यवसानः, तदर्थोपयुक्तः, तदर्पितकरणः, तद्भावनाभावितः, एतस्मिन् अन्तरे कालं कुर्यात्, नैरयिकेषु उपपद्यते। तत् तेनार्थेन गौतम ! यावत्-अस्त्येककः उपपद्यत, अस्त्येकको नोपपद्यते।

प्रश्न—जीवो भगवन् ! गर्भगतः सन् देवलोकेषु उपपद्येत ?

उत्तर—गौतम अस्त्येकेक उपपद्यते, अस्त्येकको नोपपद्यते।

प्रश्न—तत् केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! स संज्ञी पञ्चेन्द्रियः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तकः तथा-रूपस्य श्रमणस्य वा माहनस्य वा अन्तिके एकमपि आर्य-

धार्मिकं सुवचनं श्रुत्वा निशम्य, ततो भवाति संवेगजातश्रद्धः तीव्रधर्मानुरागरक्तः, स जीवो धर्मकामुकः, पुण्यकामुकः, स्वर्गकामुकः, मोक्षकामुकः, धर्मकाङ्क्षी, पुण्यकांक्षी, स्वर्गकांक्षी, मोक्षकांक्षी, धर्मपिपासकः, पुण्यपिपासकः, स्वर्ग-मोक्षपिपासकः, तच्चित्तः, तन्मनाः, तल्लेश्याः, तदध्यवसितः, तत्तीव्राध्यवसानः, तदर्थोपयुक्तः, तदर्पितकरणः, तद्भावनाभावितः एतस्मिन् अन्तरे कालं कुर्यात्, देवलोकेषु उपपद्यते। तत् तेनार्थेन गौतम !

मूलार्थ—

प्रश्न—भगवन्! गर्भ में गया हुआ जीव फिर नारकियों में उत्पन्न होता है ?

उत्तर—**गौतम! कोई उत्पन्न होता है, कोई नहीं उत्पन्न होता।**

प्रश्न—भगवन्! इसका क्या कारण है ?

उत्तर—**गौतम!** वह संज्ञी पंचेन्द्रिय और सब पर्याप्तियों से पर्याप्त जीव वीर्यलब्धि द्वारा, वैक्रियलब्धि द्वारा, शत्रु की सेना आई सुन कर, अवधारण करके, आत्मप्रदेशों को गर्भ से बाहर के भाग में फैंकता है, फैंक कर वैक्रिय

समुद्घात से समवहत हो, चतुरंगी सेना की विक्रिया करता है, चतुरंगी सेना की विक्रिया करके उस सेना से शत्रु की सेना के साथ युद्ध करता है। और वह अर्थ का कामी, राज्य का कामी, भोग का कामी, काम का कामी, अर्थ में लंपट, राज्य में लंपट, भोग में लंपट तथा काम में लंपट, अर्थ का प्यासा, राज्य का प्यासा, भोग का प्यासा और काम का प्यासा, जीव, उन्हीं में चित्त वाला, उन्हीं में मन वाला, उन्हीं में आत्मपरिणाम वाला, उन्हीं में अध्यवसित, उन्हीं में प्रयत्न वाला, उन्हीं में सावधानता वाला, उन्हीं के लिए क्रियाओं का भोग देने वाला और उन्हीं के संस्कार वाला, उसी समय मृत्यु को प्राप्त हो तो नरक में उत्पन्न होता है। इस लिए हे गौतम! यावत्-कोई जीव नरक में जाता है और कोई नहीं जाता।

प्रश्न-भगवन! गर्भ में रहा जीव देवलोक में जाता है?

उत्तर-हे गौतम! कोई जीव जाता है, कोई नहीं जाता है।

प्रश्न-भगवन्! इसका क्या कारण है?

उत्तर-हे गौतम! संज्ञी पंचेन्द्रिय और सब पर्याप्तिओं

से पूर्ण जीव तथा रूप श्रमण या माहन के पास एक भी धार्मिक और आर्य वचन सुनकर, अवधारण करके, तुरन्त ही संवेग से धर्म में श्रद्धालु बनकर, धर्म के तीव्र अनुराग में रक्त हो कर, वह धर्म का कामी, पुण्य का कामी, स्वर्ग का कामी, मोक्ष का कामी, धर्म में आसक्त, पुण्य में आसक्त, स्वर्ग में आसक्त, मोक्ष में आसक्त, धर्म का प्यासा, पुण्य का प्यासा, स्वर्ग मोक्ष का प्यासा, उसी में चित्त वाला, उसी में मन वाला, उसी में आत्मपरिणाम वाला, उसी में अध्यवसित, उसी में तीव्र प्रयत्न वाला, उसी में सावधानता वाला, उसी के लिए क्रियाओं का भोग देने वाला और उसी संस्कार वाला, जीव ऐसे समय में मृत्यु को प्राप्त हो तो देवलोक जाता है। इस लिए हे गौतम! कोई जीव देवलोक में जाता है, कोई नहीं जाता।

व्याख्यान—

गर्भस्थ बालक का शरीर माता-पिता के शरीर से ही बनता है, यह बात नास्तिक अपने पक्ष के समर्थन में घटाने की चेष्टा करते हैं। इस लिए गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं—भगवन्! गर्भ में रहा हुआ जीव मर कर क्या नरक में जाता है?

अपने देखने में और नास्तिकों की समझ में तो गर्भ का बालक माँ-बाप के विकार के सिवा और कुछ नहीं है। ज्ञानी भी यही कहते हैं कि गर्भ का बालक माँ-बाप का विकार-रूप ही है, परन्तु यह बात सिर्फ शरीर के सम्बन्ध में ही समझनी चाहिए। गर्भस्थ बालक का आत्मा तो स्वतंत्र ही है, वह पूर्वभव से आया है और उत्तर भव करेगा।

गौतम स्वामी ने जो प्रश्न किया है, उस का आशय यह है कि गर्भ का जीव अज्ञान-अवस्था में पड़ा हुआ है और गर्भ के कारागार में बंद है। बिना पाप किये कोई जीव नरक में नहीं जाता। फिर नरक का जीव नरक में कैसे जा सकता है, क्योंकि वह कोई पाप नहीं करता।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्माते हैं— गौतम! सब जीव समान नहीं है। कोई जीव गर्भ में ही मर कर नरक में जाता है और कोई जीव नरक में नहीं भी जाता। रही अज्ञान और सज्ञान अवस्था की बात, सो राजकीय कानून में भी यह प्रश्न उठता है मगर राजकीय कानून अपूर्ण है। उसे प्रमाण भूत मानकर तत्त्व का निर्णय नहीं किया जा सकता। वास्तव में अज्ञान और सज्ञान अवस्थाएँ उम्र पर निर्भर नहीं हैं। कई लोग जवानी में भी बालक से ज्यादा अज्ञान होते हैं और कई जीव बाल्यावस्था में ही ज्ञानियों को भी मात कर देते हैं।

छोटी उम्र वाले को अज्ञान और बड़ी उम्र वाले को सज्ञान मानना संसार का कायदा है, परन्तु प्रकृति का कायदा अलग है। अतिमुक्त मुनि, जब छह वर्ष के बालक थे, तब भी उन्हों ने अपनी माता से जो-जो बातें कहीं, उनका उत्तर वह नहीं दे सकी।

पुराण में देखो तो पुराण के अनुसार ध्रुव छह वर्ष के ही थे, और नारद की अवस्था कितनी थी सो कुछ पता नहीं फिर भी ध्रुव ने नारद की बातों का जो उत्तर दिया, उसे सुन कर नारद दंग रह गये। ध्रुव बहुत छोटे थे, छह वर्ष के ही थे, नाबालिग थे। इस अवस्था में उन्हें अज्ञान कहा जाय या सज्ञान कहा जाय? एक जगह लिखा है कि शंकराचार्य जब छह वर्ष के थे, तभी शुद्ध संस्कृत भाषा बोलते थे। ऐसी हालत में कुदरत के कायदे को क्या कहा जाय? किस अवस्था वाले को सज्ञान कहें और किस अवस्था वाले को अज्ञान कहें? इसी लिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि नरक में सज्ञान जीव ही जाता है, मगर सज्ञान-अज्ञान की कसौटी उम्र से नहीं बनाई जा सकती।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—हे गौतम! गर्भ में रहा हुआ कोई जीव नरक में जाता है और कोई नहीं जाता।

गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं—भगवन्! ऐसा क्यों है?

तब भगवान् फर्माते हैं—गौतम! यह बात साधारण जीव के लिए मत समझो किन्तु ओजस्वी क्षत्रीय वंशी राजवीर्य के लिए ऐसा कहा गया है। ऐसे जीव के बिना यह तेज नहीं आ सकता। गर्भ में किसी राजा का संज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्त जीव हो, तो वह गर्भ में ही मरकर नरक में जा सकता है। जिसे वीर्य की अर्थात् पराक्रम की लब्धि प्राप्त हुई हो, वह गर्भ में भी पराक्रम कर सकता है। राजा के उस जीव को यदि वीर्य की लब्धि और वैक्रिय लब्धि प्राप्त हो तो वह गर्भ से ही नरक में जा सकता है?

शास्त्र कहता है—वीर्य की लब्धि प्राप्त हो और वैक्रिय लब्धि प्राप्त न हो, या वैक्रिय लब्धि प्राप्त हो मगर वीर्य लब्धि प्राप्त न हो तो काम नहीं चल सकता। इन दोनों के होने पर ही काम चल सकता है।

गर्भ का जीव माता के सुख से सुखी और माता के दुःख से दुखी रहता है। माता के हर्ष और शोक का प्रभाव, गर्भ के बालक पर अवश्य पड़ता है। इसी कारण गर्भ की रक्षा करने वाली माता तीव्र हर्ष-शोक आदि नहीं करती। गर्भ चिकित्सा में लिखा है कि गर्भवती माता अगर भयभीत होती है तो उस भय का संस्कार गर्भ पर भी पड़ता है।

मान लीजिए, राजवीर्य का, वैक्रिय लब्धि और वीर्य लब्धि

से मुक्त बालक गर्भ में है और उसका पिता मर गया है। इतने में माता पर एक मुसीबत आ पड़ी। कोई दूसरा राजा अपनी सेना लेकर चढ़ आया। पिता मर गया है, आप गर्भ में हैं और माता चिन्ता में पड़ी है कि मेरा राज्य जा रहा है। इस गर्भस्थ बालक के पिता के प्रताप से तो सब लोग कांपते थे, पर उनके न रहने से मेरे राज्य के चले जाने का मौका आ गया! माता की चिन्ता का प्रभाव गर्भ के बालक पर भी पड़ता है और माता के मनोगत विचारों के अनुसार गर्भस्थ बालक के भी विचार होते हैं। वह बालक भी विचारने लगता है—'अहो यह शत्रु राजा मेरे पिता का राज्य लेने आया है!' यह सोचकर उसका अहंकार उग्र बनता है। फिर वैक्रिय लब्धि द्वारा वह आत्मप्रदेशों को गर्भ से बाहर निकाल वैक्रिय समुद्घात करता है। वैक्रिय समुद्घात करके वह गर्भ का बालक हाथी, घोड़े, रथ और प्यादेकी चतुरंगिनी सेना तैयार करता है और आई हुई शत्रुकी सेनासे लड़ाई करता है। वह गर्भ का बालक, यह सभी कुछ धन-कामना से, राज्य-कामना से, भोग-कामना से, और काम-कामना से, करता है। उसे इनकी कांक्षा और पिपासा है। उसका अनुगत चित्त भी ऐसा ही बना है। उसका मन भी ऐसा ही और वृत्ति भी ऐसी ही है। उसका अध्यवसाय भी ऐसा ही बना हुआ है और उसी अर्थ में अर्पित हो गया है। अतएव उसकी भावना यही रहती है कि सामने वालों को मार डालूँ और राज्य बचालूँ।

इस प्रकार वह गर्भ का जीव लड़ता–लड़ता जब अपनी वैक्रिय लब्धि को समेटने जाता है, तब छोटी शक्ति होने से उससे सब समेटा नहीं जाता और इस समेटने में वह मर भी जाता है। इस अवस्था में मरने से वह नरक में चला जाता है।

भगवान् की कही हुई यह बात प्रत्यक्षगम्य नहीं है। हम इंद्रियसे यह बात नहीं देख सकते। इसलिए इस बात पर विश्वास कराने के लिए इतिहास का एक प्रमाण दिया जाता है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि लड़ाई क्या नरक का कारण है? इस का उत्तर यह है कि शस्त्र की लड़ाई है तो अनादि से, मगर हिंसा, असत्य की लड़ाई अलग है और अहिंसा, सत्य की लड़ाई अलग है। शास्त्र यह नहीं कहता कि शास्त्रों की प्रत्येक लड़ाई नरक का कारण है। शास्त्र की लड़ाई में भी अपराधी-निरपराधी का भेद है। लड़ाई कौरवों ने भी की थी और पाण्डवों ने भी की थी। सेना और शस्त्र आदि दोनों तरफ थे, परन्तु शास्त्र कहता है—पाण्डवों का पक्ष सत्य और सात्विकता का था और कौरवों का पक्ष असत्य एवं राजस था। मतलब यह है कि शस्त्र की प्रत्येक लड़ाई से नरक ही होता है, यह बात नहीं कही जा सकती।

इस बात पर यह शंका उठाई जा सकती है कि अगर

शस्त्र की प्रत्येक लड़ाई नरक का कारण नहीं तो फिर जब वैरी चढ़ कर आया था और उससे वह गर्भ का बालक लड़ा तो उसे नरक क्यों जाना पड़ा ? शास्त्र इस का उत्तर यह देता है कि किसी का पक्ष भले ही सत्य हो, लेकिन अत्यन्त तीव्र लालसा के कारण वह सत्य पक्ष भी असत्य पक्ष बन जाता है। नरक का कारण अत्यन्त आसक्ति है। अत्यन्त आसक्ति न होने पर, सिर्फ शस्त्र की लड़ाई के कारण नरक में जाना ही पड़े, ऐसा कोई नियम नहीं है।

चेड़ा और कोणिक–दोनों ने शस्त्रसंग्राम किया था। कोणिक ने भी मनुष्यों को मारा था और चेडा ने भी। फिर भी चेड़ा बारहवें देव लोक में और कोणिक नरक में गया। इस गति भेद का क्या कारण है ? इस भेद का कारण यही है कि चेड़ा लड़ाई की हिंसा को हिंसा ही जानता–मानता था, परन्तु साथ ही यह भी सोचता था कि संसार--कर्त्तव्य निभाना पड़ रहा है। जो इस हिंसा से मुक्त हो जाता है वही धन्य है ! इस प्रकार की शुभ भावना से वह स्वर्ग में गया। आशय यह है कि तीव्र क्रोधादि ही नरक के कारण हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध के बिना नरक-गति नहीं होती। इसलिए नरक का असली कारण क्रोध आदि है। आरंभ, क्रोध का सहायक है। आरंभ से क्रोध बढ़ता है। परिग्रह, लोभ रूप है ही।

अब यह भी प्रश्न उठता है कि गर्भ के बालक में इतना सब कुछ करने की शक्ति हो सकती है, यह बात मानने में नहीं आती। इसका समाधान यह है कि जिन्होंने यह बात लिखी है, उन ज्ञानियों में क्रोधादिक तो था ही नहीं, जिससे प्रेरित होकर वह असत्य या अतिशयोक्तिपूर्ण लिखते। अतएव महात्मा पुरुषों की बात में संदेह करने का कोई कारण नहीं है। शास्त्र की बात भक्ति से माननी चाहिए। छोटे बालक में भी विचार-गंभीरता होती है, यह बात इतिहास से भी मालूम हो जाती है।

इतिहास की बात है कि जयशिखर का लड़का बनराज चावड़ा पाटन का राजा था। वनराज बड़ा पराक्रमी था। उसके पराक्रम को देखकर सारा राजपूताना तंग था। उसका पराक्रम देखकर मारवाड़ के लोगों ने विचार किया कि अपने देशमें भी वनराज सरीखा वीर उत्पन्न हो तो देश को बड़ा लाभ होगा। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए मारवाड़ी लोगों ने अपने यहां के भाटों से कहा-किसी भी प्रकार वनराज को अपने यहां ले आओ। यहां किसी कन्या से विवाह कर देंगे और उनकी जो संतान होगी वह वनराज सरीखी वीर होगी।

भाट, जयशिखर के समीप पहुँचे। उन्होंने मुक्त कंठ से जयशिखर की विरुदावली का बखान किया जयशिखर ने प्रसन्न होकर भाटों से इच्छानुसार मांगने के लिए कहा। भाटों ने

जयशिखर से वचन लिया कि वह जो मांगेंगे, वही उन्हें मिलेगा। जयशिखर ने वचन दे दिया। तब भाटों ने कृपा करके मारवाड़ पधारें। थोड़े दिनों के लिए अपना राज-पाट कर्मचारियों के सिपुर्द करदें।

जयशिखर बड़े असमजस में पड़ा। तुम लोगों ने यह क्या मांगा है! भाटों ने कहा—आपने मांगने की छुट्टी दी थी सो हमें जो अच्छा लगा सो मांग लिया। अब आप कृपा करके मारवाड़ पधारिये।

आखिर जयशिखर अपना राज्य सरदारों को सौंपकर भाटों के साथ मारवाड़ की ओर रवना हुआ। रास्ते में जयशिखर ने पूछा--मैं चल तो रहा ही हूँ, परन्तु यह तो बताओ कि तुम लोग किस उद्देश्य से मुझे लिये जा रहे हो ?

भाटों ने उत्तर दिया—मारवाड़ में वनराज सरीखा वीर पुरुष उत्पन्न करना है। इसी उद्देश्य से आपको लिये जा रहे हैं। तब जयशिखर ने हँस कर कहा-वनराज अकेले मुझ से नहीं पैदा हुआ है। वनराज की मां सरीखी मां ही वनराज को जन सकती है। भाटों ने कहा—मारवाड़ में कन्याओं की कमी नहीं है।

जयशिखर ने कहा—कन्याएँ तो होंगी, पर प्रत्येक से वनराज पैदा नहीं हो सकता। वनराज की माँ जैसी स्त्री ही वनराज को

जन्म दे सकती है। मैं ने तुम्हें मुँह-माँगा वरदान दिया है, इस लिए मैं तुम्हारे साथ चल ही रहा हूँ। परन्तु पहले यह देख लो कि वनराज की माँ सरीखी कोई कन्या मारवाड़ में है या नहीं ?

भाट बोले—आखिर वनराज की माँ कैसी थी ?

जयशि० ने कहा—वनराज की माता का परिचय देने के लिए सिर्फ एक घटना ही बतलाता हूँ उसी से तुम्हें उसके व्यक्तित्व का पता चल जायगा। जिस समय वनराज ६ महीने का था, उस समय एक बार मैं रानी के महल में गया। उस समय वनराज लेटा हुआ था। वनराज की माँ से मैं ने छेड़-छाड़ की। तब उस ने कहा—आप को लज्जा नहीं मालूम होती कि सामने पर-पुरुष लेटा हुआ है और आप मुझ से छेड़ छाड़ कर रहे हैं। मैं ने हँस कर कहा—यह ६ महीने का शिशु ही क्या पुरुष है ! तब उस ने उत्तर दिया--इसे ६ महीने का जान क्या आप पुरुष ही नहीं समझते !

मैं नहीं माना। मैं ने फिर रानी से छेड़-छाड़ की। तब वनराज ने अपना मुँह फेर लिया। रानी ने यह देख कर कहा—देखो, तुम जिसे निरा शिशु समझते थे, उसने मुँह फेर लिया ! मेरी प्रतिज्ञा थी कि मैं पर पुरुष के सामने अपनी इज्जत नहीं जाने दूँगी। लेकिन आप ने पर पुरुष के सामने इज्जत लेकर मुझे प्रतिज्ञा भ्रष्ट कर दिया।

आखिर इसी बात पर वनराज की माता जहर पीकर सो गई। उसने फिर मुझे कभी मुँह नहीं बतलाया। तुम्हारे यहाँ कोई ऐसी माता है ?

भाटों को यह बात सुनकर आश्चर्य हुआ। उन्हों ने हताश हो कर कहा—महाराज, हमारे यहाँ ऐसा कन्यारत्न मिलना कठिन है। अब आप प्रसन्नतापूर्वक लौट सकते हैं। निष्कारण कष्ट करने से क्या फायदा है ?

क्या वलवीर की यह बात साधारण आदमी की समझ में आ सकती है ? वीर पुरुषों की यह बात वीर ही समझ सकते हैं। ६ मास के बालक की यह बात इतिहास की है और सिद्धान्त में गर्भ के बालक की बात लिखी है। गर्भ का बालक लड़ाई करता है और क्रूर अध्यवसाय के कारण मर कर नरक में जाता है। जब आप इतिहास की बात पर विश्वास करते हैं, तब सिद्धान्त की बात पर क्यों विश्वास नहीं करते ?

नास्तिक लोगों का कथन है कि माता-पिता के रज-वीर्य से ही बालक उत्पन्न होता है और जब रज-वीर्य के संस्कार नष्ट होते हैं तब शरीर भी नष्ट हो जाता है। इतना ही नहीं, उनके मत के अनुसार शरीर के साथ शरीरवान् (चैतन्यमय आत्मा) भी नष्ट हो जाता है। लेकिन आगम से विदित होता है कि गर्भ का

बालक स्वर्ग या नरक भी प्राप्त कर सकता है, तो उस बालक को केवल माता-पिता का रज-वीर्य ही कैसे माना जा सकता है ? उस गर्भस्थ बालक में आत्मा की अद्भुत शक्ति है। आत्मा के तेज को और उसकी शक्ति को समझना सरल बात नहीं है। उसे न समझने के कारण ही नास्तिकता आती है और भौतिक पदार्थ पर ही सारा विश्वास केन्द्रित होजाता है। यह वास्तव में समझ की कमजोरी है।

एक ही आत्मा नरक में भी जा सकता है और स्वर्ग में भी जाने की शक्ति रखता है। दोनों प्रकार की शक्ति मूल में एक ही है, उसका उपयोग भिन्न भिन्न तरह से होता है। किसी शस्त्र से आत्मरक्षा भी हो सकती है और आत्महत्या भी हो सकती है।

यही दर्शाने के लिए गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! गर्भ में रहता हुआ जीव देव लोक में भी चला जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—हाँ, गौतम ! चला जाता है। अर्थात् कोई जाता है, कोई नहीं जाता। तब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! ऐसा क्यों है ? भगवन् उत्तर देते हैं-गौतम ! जैसा कारण होता है, वैसा कार्य होता है। जीव में स्वर्ग-नरक दोनों प्राप्त करने की शक्ति है। वह जैसी सामग्री जुटाता है, वैसी ही गति पाता है।

विशिष्ट सत्व शाली जीव ही गर्भ से स्वर्ग या नरक जा सकता है। सतोगुणी प्रकृति वाला जीव स्वर्ग जाता है और तमोगुणी प्रकृति वाला जीव नरक जाता है। हे गौतम! वह किसी महान् राजा का वीर्य संज्ञी पंचेन्द्रिय और सब पर्याप्तिओं से पर्याप्त, जब माता के गर्भ में होता है, उस समय उसकी माता तथारूप श्रमण माहन से धर्म का व्याख्यान सुनाती है उसी प्रकार गर्भ का बालक भी उसी प्रकार सुनता है, जैसे सेना लेकर चढ़ाई होने की बात सुन सकता है।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्रमण और माहन के साथ 'तथारूप' विशेषण क्यों लगाया गया है? 'तथारूप' विशेषण यह बात बतलाता है कि जैसा पुरुष है—जिसकी जिस रूपमें प्रसिद्धि है, उसमें गुण भी उसी प्रकार के हैं। उदाहरणार्थ माणिक इमीटेशन भी होता है और असली भी। इमीटेशन माणिक का स्वांग तो असली माणिक के समान ही है, लेकिन वह असली नहीं है। उसमें असली माणिक की विशेषता नहीं है। इसी प्रकार श्रमण—माहन का स्वांग (वेष) धारण करने वाले बहुत हैं, परन्तु तथारूप के -असली गुणयुक्त श्रमण—माहन सब नहीं होते। ऐसे किसी ऐरे-गैरे से अभिप्राय नहीं है। यहां श्रमण--माहन के शास्त्रोक्त गुणों से युक्त श्रमण—माहन का अर्थ लेना चाहिए। इसीलिए 'तथारूप' विशेषण लगाया है,। जिसका

शत्रु-मित्र पर समभाव है, जो सतत तप में लीन रहता है, वह श्रमण कहलाता है। किसी से घृणा करने या किसी को संताप देने के लिए तप करना सुतप नहीं है; किन्तु समभाव के साथ, आत्मशुद्धि के लिए किया जाने वाला तप ही सुतप है। ऐसा सुतपस्वी ही श्रमण कहलाता है।

आप कह सकते हैं कि जिसे शत्रु-मित्र पर समभाव हो गया, उसे तप करने की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है कि समभावी को भी तप करना पड़ता है। समभाव वाले को भी निराहार रहना पड़ता है। थोड़ी देर के लिए कल्पना कीजिए कि रोटी एक है और खाने वाले दो हैं-माँ और बेटा। अगर माँ खाती है तो बेटा भूखा रहता है और बेटा खाता है तो माँ भूखी रहती है। ऐसी परिस्थिति में समभाव वाली माँ आप भूखी रहकर बच्चे को खिला देगी, क्योंकि बच्चे के और अपने प्रति उसमें समभाव है। जो माता ऐसी नहीं है, बच्चे के प्रति कपट भाव रखती है, वह माता के गौरवपूर्ण पद की अधिकारिणी नहीं हो सकती। ऐसी माता की बात निराली है।

जैसे बच्चे के प्रति समभाव रखने वाली माता, आप भूखी रहती है, उसी प्रकार समभाव रखने वाले महात्मा संसार को दुखी देख कर, अनशन करके भी संसार के दुख दूर करने का उपाय करते हैं। खुद की गर्ज के लिए अनशन करना एक बात

है और अछूतों के लिए गांधीजी के समान अनशन करना दूसरी बात है।

जिस में समभाव होगा वह सोचेगा कि भारत में छह-सात करोड़ मनुष्यों को दो बार पेट भर भोजन नहीं मिलता और हम तीसों दिन, दोनों बार भोजन करते हैं। अगर दोनों समय भोजन करने वाले बीस-पच्चीस करोड़ मनुष्य एक माह में छह दिन भूखे रह जावें तो भूखे रहने वालों को भोजन भी मिल जाएगा और हमारे समभाव की रक्षा भी हो जायगी।

अन्न बचाने के अभिप्राय से अनशन करना दूसरी बात है। और त्याग (दान) के लिए अनशन करना अलग बात है। शास्त्रकारों ने दान, शील, तप और भाव का क्रम बनाया है। यानी जितना तप करो उतना ही दान करो, यह बतलाया है। तुम तप करके दूसरे भूखों मरने वालों को दान दो तो उनका भला होगा और तुम घाटे में भी नहीं रहोगे! जिसके हृदय में समभाव होगा, जिसके अन्तःकरण में पर के प्रति करुणा का भाव उत्पन्न होगा, वह तप किये बिना नहीं रहेगा।

माहण या मा-हन, ब्राह्मण को कहते हैं। ब्राह्मण में ब्रह्मचर्य के साथ 'मत मार' यह अर्थ भी गर्भित है। अर्थात् जो स्थूल-प्राणातिपात से स्वयं निवृत्त हो कर, दूसरों को अहिंसा का—न

मारने का–उपदेश देता है और ब्रह्मचर्य का पालन करता है यह 'मा-हस' कहलाता है। 'मत मार' इस प्रकार के शब्द किसी के मुख से निकलेंगे ? जब वह स्वयं मारता होगा, वह दूसरों को नहीं मारने का उपदेश कैसे दे सकता है ? वह तो मारने का ही उपदेश देगा। 'माहन' का अर्थ तो ऐसा ब्राह्मण है जो ब्रह्मचर्य पालन के साथ ही 'मतमार' का उपदेश देता है। लेकिन जो पुरुष यह कहते हैं कि–'मैं मंत्र पढ़ता हूँ, तू छुरी चला' तो उसे ब्राह्मण किस प्रकार कहा जा सकता है ?

तात्पर्य यह है कि श्रमण और माहन नकली भी होते हैं। इस लिए 'तथारूप' विशेषण लगाकर उसका निराकरण कर दिया है।

यहां एक प्रश्न यह खड़ा किया जा सकता है कि धर्म की बात किसी साधारण श्रमण--माहन से सुनी जाय या तथारूप श्रमण--माहन से सुनी जाय, उसमें क्या अन्तर है ? इसका उत्तर यह है कि शब्द, ब्रह्म माना जाता है। शब्द में बहुत शक्ति है। तथारूप वाले, शास्त्र को प्रेम से सुनाएँगे और अतथारूप वाले बिना प्रेम के सुनाएँगे। प्रेम से सुनाये और बिना प्रेम से सुनाये में बहुत अन्तर पड़ता है। एक हाथी--दांत, हाथी के मुँह में लगा हुआ होता है, बड़े-बड़े दर्वाजे को तोड़ देता है और दूसरा हाथी–दांत स्त्रियों की चुड़ी का है। हाथी–दांत तो वही

है, परन्तु चूड़ी बना हुआ हाथी-दांत दर्वाजे नहीं तोड़ सकता, पुरुषों के कलेजे को भले ही तोड़ दे, यानी सुन्दरता भले ही बढ़ा सके। इसी प्रकार तथारूप वाले श्रमण के शब्द, हाथी के मुँह में लगे हुए दांत के समान शक्ति शाली हैं और अतथारूप वाले शब्दों को अलंकारी भले ही बना दें, शब्द-चातुर्य द्वारा आँटा भले ही कमा लें, लेकिन उनके शब्दों में वह वास्तविक शक्ति नहीं आ सकती। इसी लिए शास्त्र में तथारूप विशेषण देकर यह बात स्पष्टतया सूचित करदी है।

भगवान् कहते हैं-हे गौतम! ऐसे तथारूप वाले श्रमण-माहन के मुख से गर्भवती माता व्याख्यान सुनती है और उस व्याख्यान को गर्भस्थ जीव भी सुनता है। व्याख्यान सुन कर गर्भ का जीव धर्म की ऊँची भावना भाता है और उस समय अगर काल कर जाता है तो वह स्वर्ग में जाता है।

इस प्रश्नोत्तर से यह निष्कर्ष निकलता है कि गर्भ के बालक को स्वर्ग भेजना या नरक भेजना बहुत कुछ माता के आधीन है। माता, अपने बालक को जहां चाहे वहीं भेजने के योग्य बना सकती है। जिस माता के गर्भ का जीव स्वर्ग जाता है, वह माता ढोंग की पूजा करने वाली नहीं होती। आज गर्भवती माताएँ अधिकांश ढोंग की पूजा करती हैं, इस लिए गर्भस्थ बालक पर भी वैसे ही संस्कार पड़ते हैं।

तथारूप श्रमण-माहन के वचन आर्य हैं । उनके वचनों में जरा भी विषमता नहीं है । जिस वचन में जरा भी विषमता न हो वही आर्य वचन कहलाता है । श्रमण-माहन के मुख से निकले अनेक आर्य वचनों का तो कहना ही क्या है, अगर एक वचन भी गर्भ का बालक सुनकर धारण कर लेता है, तो भी वह स्वर्ग चला जाता है ।

श्रावक को ब्राह्मण या माहन क्यों कहा है ? इसका कारण यह है कि ब्राह्मणत्व का आधार कर्म है । कर्म से ही ब्राह्मण कहलाता है । उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है:-

कम्मुणा बम्हणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ ।
कम्मुणा वेसिओ होई, कम्मुणा हवइ सुद्दाओ ॥

अर्थात्-अमुक प्रकार के कर्म से ही ब्राह्मण होता है, अमुक प्रकार के कर्म से क्षत्रिय कहलाता है, अमुक प्रकार के कर्म से वैश्य कहलाता है और अमुक कर्मों के कारण शूद्र कहलाता है ।

मनुस्मृति में भी यही बात कही गई है ।

श्रावक स्थूल प्राणातिपात नहीं करता है । और 'जीव को मत मारो' यह सिद्धांत प्रत्येक स्थान पर प्रकट करता है । यानी जो स्वयं हिंसा से निवृत्त होकर दूसरों को भी निवृत्त होने का उपदेश देता है, वह माहन-श्रावक या ब्राह्मण कहलाता है ।

इस प्रकार माहन का अर्थ ब्राह्मण है, परन्तु वही ब्राह्मण है जो ब्रह्मचर्य का पालन करता हो। स्वस्त्रीसंतोषी और परस्त्री त्यागी भी देशब्रह्मचारी कहलाता है। 'एक नारी सदा ब्रह्मचारी' यह कहावत लोक में प्रसिद्ध ही है। ऐसे श्रमण-माहन के एक भी आर्य धर्म वचन को धारण करने वाला गर्भ का बालक स्वर्ग जा सकता है।

वचन और प्रवचन में अन्तर है। 'प्रकृष्टं वचनं-प्रवचनम्' अर्थात् उत्कृष्ट बोलना प्रवचन कहलाता है। अथवा 'प्रकृष्टस्य वचनं प्रवचनम्' अर्थात् उत्कृष्ट पुरुष का वचन प्रवचन कहलाता है। इसके विपरीत साधारण बोलचाल को वचन कहते हैं। न्यायाधीश (जज) घर में भी बोलता है और न्यायालय में भी बोलता है। परन्तु उसके दोनों जगह के वचनों में अन्तर रहता है। उत्कृष्ट वचन उसी के कहे जा सकते हैं जो निष्पक्ष हो-मध्यस्थ हो। इस लिए प्रवचन का अर्थ आप्तवचन है। जिसके राग-द्वेष नष्ट हो गये हैं और जिसमें पूर्ण ज्ञान है, वही प्रवचन कर सकता है। जिसका जीवन-व्यवहार प्रवचन के रंग में रंगा हुआ है, जो प्रवचन के अनुसार ही व्यवहार करता है, उसी से सुना हुआ प्रवचन विशेष प्रभाव जनक होता है। इसी कारण भगवान् ने 'तहारूवाणं समणाणं माहणाणं' कह कर यह भाव स्पष्ट कर दी है।

पापकर्मों से दूर रहने वाला आर्य कहलाता है। और आर्यों के आचार-विचार संबंधी वचन को प्रवचन कहते हैं।

जिसके वचन में निर्दोषता हो और जो वचन, सुनने वाले को पाप से हटाए, इस पुरुष के ऐसे वचन को मानना उचित है। इसके विरुद्ध ज्ञान के अभिमान से अहरह और शुद्ध जीवन व्यवहार से रीतें बड़े से बड़े पंडित की पाप वर्धक बात भी सुनना उचित नहीं।

अब यह भी देखना उचित है कि पाप किसे कहना चाहिए? शास्त्रकारों ने पाप के अठारह भेद कर दिये हैं। इन अठारह पापों को भली-भांति समझ लेने से बहुत कुछ पापों से बचाव हो सकता है। इन अठारह पापों के अवान्तर भेद रूप पापों से बचना कदाचित् संभव न हो तो भी मूल अठारह पापों से बचने वाला भी आप्तवचन कहने का अधिकारी हो सकता है।

अठारह पापों में पांच आस्रव मुख्य हैं। फिर, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति-अरति, मायामृषा और अठारहवाँ मिथ्यादर्शन शल्य है। मिथ्यात्व का अर्थ है—वस्तु को उल्टी मानना। अर्थात् धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, जीव को अजीव, अजीव को जीव, साधु को असाधु और असाधु को साधु आदि मानना। इन अठारह पापों से बचा रहने वाला पुरुष आर्य कहलाता है। और इन पापों

से बचने के लिए उपदेश के जो वचन हैं, वह आर्य प्रवचन हैं। एक भी आर्य वचन गर्भ के बालक को संवेग और श्रद्धा में बलवान् बना देता है।

सच्चा आर्य पुरुष पाप से घृणा करता है, किन्तु पापी से घृणा नहीं करता। पापी से घृणा करना पाप को बढ़ाना है। अक्सर लोग पाप से घृणा नहीं करते, किन्तु पापी से घृणा करते हैं। कोई गोघाती अगर आपके सामने आ जाय तो आप उसे झिड़क कर कहेंगे—'चल, हट, पापी दुष्ट!' लेकिन ऐसा कहना पाप है या नहीं? मित्रों! अगर कोई ऐसा पापी आपके सामने आ जाय तो आपको सोचना चाहिए—'इसका भी आत्मा मेरे ही समान है, परन्तु यह पाप में पड़ा हुआ है। हे प्रभो! इसकी आत्मा मेरे ही समान या मुझ से भी अधिक उज्ज्वल बन जाय।'

हिंसा से हिंसा नहीं मिट सकती। जो हिंसा से हिंसा मिटाने का विचार करते हैं, वे विचारक नहीं हैं। इससे तो हिंसा की परम्परा और दीर्घ बन सकती है, हिंसा का उच्छेद नहीं हो सकता। मान लीजिए, एक आदमी हिंसा कर रहा है। आप उसे हिंसा करते देख मारने दौड़ते हैं या मारते हैं तो आपकी यह क्रिया क्या है? आप स्वयं हिंसा में प्रवृत्त होकर उस पहले हिंसक की कोटि में पहुँच जाते हैं। क्या आप दूसरों

की हिंसा को बुरा समझते हुए भी अपनी हिंसा को बुरा न समझेंगे ? अगर आप अपनी हिंसा को हेय नहीं समझते तो दूसरों द्वारा होने वाली हिंसा को हेय समझने का आपको क्या अधिकार है ? अगर हिंसक जीव के प्रति आपके अन्तःकरण में सच्ची करुणा विद्यमान है तो प्रेम से उसे हिंसा से दूर करो। आपकी करुणा जैसी हिंस्य जीव पर है, वैसी ही हिंसक पर होनी चाहिए। आपको मरने वाला जीव अगर प्यारा लगता है तो मारने वाला भी प्यारा ही लगना चाहिए। उस पर भी आपको दया करनी चाहिए। ऐसा करने से आप अपना कल्याण तो करेंगे ही, साथ ही प्रेम के अद्भुत मंत्र से सहज ही हिंसक को हिंसा से बचा सकेंगे। अतएव पापी से कभी घृणा मत करो, केवल पाप से घृणा करो। अलबत्ता. पापी के पापों की सराहना भी न करना और उसके पापों को अपने आत्मा में प्रविष्ट न होने देना। सोचना कि यह अज्ञान के कारण पाप कर रहा है यह अज्ञान मुझमें भी न आ जावे। मेरे अज्ञान का अन्त तभी होगा, जब मैं पापी के बदले पाप से घृणा करूँगा।

कभी—कभी ऐसा अवसर आ पड़ता है कि पापी से असहकार करना अनिवार्य हो जाता है। और उस समय ऐसा करना भी अच्छा होता है। मगर असहकार में भी घृणा या द्वेष को स्थान नहीं है। असहकार, पाप की भागीदारी से बचने के

लिए किया जाता है। डाक्टर यदि रोगी को लेकर पड़ा रहे तो रोगी को भी फायदा न होगा और स्वयं डाक्टर भी रोगी हो जायगा। इस लिए डाक्टर दूसरे को भी यही कहेगा कि रोगी के रोग के चेप से बचने के लिए तुम दवा पास रक्खो और रोगी से चिपटो मत। यानी डाक्टर, रोगी का रोग भी मिटाना चाहता है और अपने में तथा दूसरे में रोग भी नहीं फैलने देता।

शास्त्र में भी ऐसी बात समझाई है, लेकिन समझ-फेर से लोग कुछ का कुछ अर्थ करते हैं। उदाहरण के लिए—शास्त्रों में कहा है कि हिंसक, गोघाती एवं शराबी की संगति मत करो। इसका अर्थ हम लोग यह समझ बैठते हैं कि उनसे घृणा करो। लेकिन ऐसा अर्थ समझना भ्रम है। हमें सोचना चाहिए कि शास्त्रकारों ने संगति न करने का उपदेश क्यों दिया है? शास्त्रकारों का कथन है कि आत्मा तो पापी का भी हमारे ही समान है, लेकिन अगर हमारे भीतर कमजोरी हुई तो उसका पाप हम में घुस जायगा। अतएव पाप से बचे रहने के लिए पापी की संगति मत करो। हां, अगर तुम अपने में पाप न आने देकर उस पापी का पाप मिटा सकते हो, जैसे डाक्टर रोगी का रोग अपने में न आने देकर मिटा देता है, तब तो पापी की संगति करके उसका पाप मिटाना अच्छा ही है। मगर इतनी दृढ़ता तुम्हारे भीतर नहीं है तो पापी से असहकार करना अच्छा है।

शास्त्र में एक धर्मात्मा पिता की कथा आई है, जिसने अपने पुत्र के विरुद्ध चोरी की गवाही दी थी। तात्पर्य यह है कि पापी को उत्तेजन देना ठीक नहीं है और ऐसा करने के लिए कभी असहकार करना भी उचित हो जाता है, परन्तु किसी भी दशा में पापी से घृणा करना उचित नहीं हो सकता।

कदाचित् मेरा कोई चेला धर्म न पाले तो उससे असहकार करने के सिवा और क्या उपाय है ? ऐसा करने का अर्थ कोई फूट डालना समझे तो भले ही समझे, मगर यह फूट डालना नहीं है, यह तो धर्म पालन है। फूट उस अवस्था में समझी जा सकती है जब वह चेला अपने दोष का प्रायश्चित्त करके धर्म पालन स्वीकार करे और फिर भी हम उसे अपने साथ सम्मिलित न करें।

गौतम स्वामी के प्रश्न का जो उत्तर भगवान ने दिया है, उसके विषय में एक आशंका यह की जा सकती है कि गर्भ का बालक माता के कान से कैसे सुन सकता है ? इसका समाधान यह है—एक आदमी, एक कमरे में बैठ कर कुछ बोलता है। कमरे की दो दीवारों में से एक में छेद है और दूसरी में नहीं है। तो जिस दीवार में छेद नहीं है, उसके दूसरी ओर बैठा हुआ आदमी शब्द नहीं सुन सकेगा, परन्तु जिस दीवार में छेद है, उसके दूसरी ओर बैठने वाला शब्द सुन लेगा। इसी प्रकार

माता के कान में होकर नाड़ियों द्वारा गर्भ में भी शब्द पहुँचता है। इसके सिवा संकट के समय इन्द्रियों का वेग स्थिर और प्रबल होता है, इस कारण भी गर्भ का बालक बात सुन लेता है। उदाहरण के लिए कीड़ी की अपेक्षा आपके नाक के द्वारा विषय-ग्रहण करने की शक्ति अधिक है, फिर भी वस्तु की जितनी गंध कीड़ी को आती है, उतनी आपको नहीं आती। किसी जगह पड़ी हुई शक्कर की गंध चिऊँटी को तो आ जाती है, मगर आप को क्यों नहीं आती? चिऊँटी के आंख नहीं हैं और वह बिल में घुसी है, फिर उसे यह खबर कैसे लग गई कि इस जगह शक्कर पड़ी है? वास्तव में वह गंध उस बिल में गई, जहां चिऊँटी थी। शक्कर के गिरते ही शक्कर की गंध सब जगह फैल जाती है। उस गंध के सहारे कीड़ी बिल से बाहर निकल कर चली और जिधर से अधिक गंध आने लगी, उसी ओर चल पड़ी। चलते-चलते वह शक्कर के पास पहुँच गई। इस प्रकार गंध के द्वारा कीड़ी ने इतना पता लगा लिया, परन्तु आप भी क्या इतना पता लगा सकते हैं?

'नहीं!'

क्यों? इस का कारण यह है कि चिऊँटी में यद्यपि मन नहीं है, तथापि अध्यवसाय है और वह एकाग्र है। इसी कारण उसे जल्दी गंध का पता लग जाता है। आप का अध्यवसाय

घँटा रहता है। आप के मन में बड़े-बड़े विचार उत्पन्न होते रहते हैं। इस लिए आपको पता नहीं लगता।

पिछली रात में जाग जाने पर आप को जो शब्द सुनाई देते हैं वे दिन में क्यों नहीं सुनाई देते? इसका कारण भी यही है कि पिछली रात में व्याघात नहीं होते और अध्यवसाय एकाग्र रहता है। इसी प्रकार चिऊँटी का अध्यवसाय एकाग्र रहने से उसे गंध का ज्ञान जल्दी हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि गर्भ के बालक का मन इधर-उधर अधिक नहीं डोलता। अतएव माता के ध्यान में जो बात आती है, वह गर्भस्थ बालक के ध्यान में भी आ सकती है।

लोग सन्तान प्राप्त करने के लिए न जाने कितनी खटपट किया करते हैं, परन्तु सन्तान पाकर उसे संस्कारयुक्त बनाने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करते। आप यह जानते हुए भी कि माता के विचारों एवं चेष्टाओं का प्रभाव गर्भ के बालक पर पड़ता है, क्या माता को सुधारने की चेष्टा करते हैं? अगर आप यह चेष्टा नहीं करते तो सुधरी हुई सन्तान कैसे पा सकते हैं? आपके सामने अच्छी से अच्छी वस्तु मौजूद है, उसे लेना न लेना आपकी इच्छा पर निर्भर है।

भगवान् महावीर के भक्त, भगवान् की जय बोलने से

पहले महारानी त्रिशला और महाराजा सिद्धार्थ की जय क्यों बोलते हैं ? प्रयोजन तो भगवान् से है, फिर इनकी जय बोलने का क्या प्रयोजन है, ? मगर ऐसा कृतघ्न कौन होगा जो भगवान् को तो माने और उनके माता-पिता को भुलादें ? कन्या का किसी वर के साथ विवाह कर देने पर अगर कन्या, उस वर के माता-पिता के प्रति अनुगृहीत न हो, उन्हें वर से भी पहले पूज्य न माने तो वह कन्या कैसी समझी जायगी ? यह बात आप लोग जानते ही हैं। इसी प्रकार भगवान् महावीर में जो शक्ति आई, उसका कुछ भी श्रेय क्या उनके माता-पिता को नहीं है ? अतएव भगवान् को पूज्य मानने वालों को चाहिए कि वे उनके माता-पिता को भी न भूलें, जिन्होंने भगवान् महावीर को संस्कार संपन्न बनाने का प्रयत्न किया है। ऐसा करने से ही कृतज्ञता ठहरेगी।

लोग प्रायः गर्भवती स्त्री का कोई ध्यान नहीं रखते। गर्भवती स्त्री गंदा भोजन करे, गंदी हँसी-मसखरी करे और गंदा व्यवहार करे तो क्या गर्भ पर बुरा प्रभाव न पड़ता होगा ? पुरुष, गर्भवती स्त्री से भी संसार-व्यवहार करने से बाज नहीं आते, इसका असर गर्भ पर बहुत बुरा पड़ता है। ऐसा व्यवहार तो पशु भी नहीं करता। मगर मनुष्य कहलाने वाले जीव अपने विवेक को भूल कर विषयवासना के कीड़े बने रहते हैं।

कदाचित् धर्मशास्त्र पर और विज्ञान पर विश्वास न हो

तो भी डाक्टरों की बात तो मानो ! डाक्टरों का यह निश्चित मत है कि जो पुरुष गर्भवती स्त्री से मैथुन करते हैं, वे गर्भ के बालक पर घोर अत्याचार करते हैं। ऐसा करने वाले लोग पिशाचों से भी गये-बीते हैं।

मतलब यह है कि धर्मशास्त्र और सायंस—दोनों स्पष्ट बतलाते हैं कि गर्भवती स्त्री के सामने जो दृश्य होता है, उसका असर गर्भ पर भी पड़ता है। गर्भवती के सामने जो शक्ल-सूरत होती है, उसका प्रभाव गर्भ की संतान पर पड़े बिना नहीं रहता। इसी प्रकार गर्भवती स्त्री जो सुनती या सोचती है, उसका असर भी गर्भ पर अवश्य पड़ता है।

धर्म कामना और पुण्य कामना का फल मोक्ष कामना और स्वर्ग कामना है। यद्यपि कामना मात्र वर्जित है, पर यहां कामना का अर्थ दूसरा ही है।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अगर स्वर्ग की भी कामना नहीं करनी चाहिए तो फिर शास्त्र में धर्मकामना, स्वर्गकामना तथा मोक्षकामना का पाठ क्यों आया है ? इसका उत्तर यह है कि मान लीजिये एक आदमी पथ्य खाता है। ऐसे आदमी के लिए यह कहा जाता है कि वह निरोग रहने की कामना करता है। और जो आदमी कुपथ्य खाता है, उसके सम्बन्ध में यह

कहा जाता है कि यह रोगी बनना चाहता है। इसी प्रकार धर्म सुनने वाले के प्रति, धर्मश्रवण करने के कारण यह कहा जाता है कि यह आत्मा स्वर्ग और मोक्ष का कामी है।

गर्भ का बालक स्वर्ग और मोक्ष की कामना करता है। कामना और कांक्षा में अन्तर है। अत्यन्त बढ़ी हुई कांक्षा, कामना कहलाती है। जैसे एक तो प्यास का लगना और दूसरे प्यास का अत्यधिक बढ़ जाना। प्यास बढ़ जाने पर पानी के लिए बेचैनी हो जाती है। पहली कांक्षा थी तब बेचैनी नहीं थी। जब पानी के बिना नहीं रहा जाता तब कामना हुई।

इससे आगे कहा है स्वर्ग और मोक्ष की पिपासा होती है। जैसे प्यास लगने पर पानी पीने की इच्छा होती है, इसी प्रकार धर्म सुनने पर गर्भ के बालक में स्वर्ग और मोक्ष की पिपासा होती है।

यहां भक्ति और धर्म दोनों का समावेश है। भक्ति वही सच्ची है जो धर्म को चाहे। एक भक्त ने कहा है।

> भक्ति एवी रे भाई एवी जेम तरस्या ने पाणी जेवी।
> एक माछली जल में रमे छे, निशदिन रहेवो तेने गमे छे।
> कोई पापीए बाहर काढ़ी, मुई तड़फड़ी अंग पछाड़ी।
> जाय माछली जल ने समरतो, एम गुरु चरणे चित्त धरतो॥

धर्म-पुरुष की पिपासा या भक्ति की पिपासा एक ही वस्तु है। कोई पूछे कि भक्ति कैसे करें? तो इसका उत्तर यह होगा

कि जैसे मछली जल की भक्ति करती है, वैसे ही भक्ति करो। मछली सदा जल में ही रहती है। लेकिन क्या वह कभी ऐसा सोचती है कि मुझे जल में रहते बहुत दिन हो गये, अब जल से बाहर निकलूँ ? नहीं। यह तो मछली से ही पूछो कि उसे निरन्तर जल में रहना कैसे अच्छा लगता है ! इसी प्रकार भक्त की बात भक्त ही समझ सकता है।

मछली को कोई जल से बाहर निकाल दें तो वह तड़फड़ा कर जल को ही याद करेगी। उसे कोई मखमल की गादी पर रक्खे और बढ़िया से बढ़िया भोजन दे, लेकिन उसे वह सब अच्छा नहीं लगेगा। वह जल के लिए ही तड़फड़ाएगी। जबतक उसके प्राण नहीं निकल जाएँगे, वह जल के लिए ही बेचैन रहेगी। आप भी मछली की तरह धर्म या गुरु को मानने लगो तो आपका कल्याण होगा।

आपमें धर्म की भावना तो है, किन्तु कल्याण तब होगा जब वह भावना बढ़ती जाय। धर्म की भावनामें लौकिक वासना होना दुखदायी है, इसलिए वासना को मत उत्पन्न होने दो और जो पहले से विद्यमान है, उसे निकाल बाहर करो। जैसे मछली को पानी ही सुहाता है और पानी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सुहाता, इसी प्रकार आपको धर्म ही प्रिय लगे और धर्म के सिवाय और कुछ भी प्रिय न लगे। वासना त्याग दो। भक्ति किसी प्रकार के बदले के लिए मत करो। कामना रहित होकर भक्ति करने वाले का कल्याण होता है।

गर्भस्थिती

मूलपाठ—

प्रश्न—जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे उत्ताणए वा, पासिल्लए वा, अंबखुज्जए वा, अच्छेज्जए वा, चिट्ठेज्जए वा, निसीएज्ज वा, तुयहेज्ज वा, माउए सुवमाणीए सुवइ, जागरमाणीए जागरइ, सुहियाए सुहिए भवइ, दुहियाए दुहिए भवइ ?

उत्तर—हंता गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे जाव दुहियाए दुहिए भवइ, अहे णं पासवणकालसमयंसि सीसेण वा, पाएहिं वा आगच्छाति, सम्मं आगच्छइ, तिरियं आगच्छइ, विणिहायं आवज्जइ, वन्नवज्भाणि य से कम्माइं

बद्धाइं, पुट्ठाइं, निहत्ताइं, कडाइं, पट्ठवियाइं, अभिनिविट्ठाइं, अभिसमन्नागयाइं, उदिन्नाइं, नो उवसंताइं भवंति, तओ भवइ दुरूवे, दुवन्ने, दुगन्धे, दुरसे, दुफासे, अणिट्ठे, अकंते, अप्पिए, असुभे, अमणुन्ने, अमणामे, हीणस्सरे, दीणस्सरे, अणिट्ठस्सरे, अकंतस्सरे, अप्पियस्सरे, असुभस्सरे अमणुन्नस्सरे, अमणामस्सरे, अणाएज्जवयणे, पच्चायाए, या वि भवइ। वण्णावज्झाणि य से कम्माइं नो बद्धाइं, पसत्थं णेयव्वं जाव-आदिज्जवयणे पच्चायाए या विभवइ।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति।

संस्कृत छाया—

प्रश्न—जीवो भगवन्! गर्भगतः सन् उत्तानको वा, पार्श्र्वयो वा, आम्रकुब्जको वा, आसीत् वा, तिष्ठेत् वा, स्वर्त्तयेत् वा, मातरि स्वपत्यां स्वपिति, जाग्रत्यां जागर्ति, सुखितायां सुखितो भवति, दुःखितायां दुःखितो भवति?

उत्तर—हन्त गौतम ! जीवो गर्भगतः सन् यावत् दुःखितायां दुःखितो भवति, अथ प्रसवनकालसमये शीर्षेण वा, पादाभ्यां वा आगच्छति, सम्यग् आगच्छति, तिर्यग् आगच्छति, विनिघातं आपद्यते, वर्णवध्यानि च तस्य कर्माणि बद्धानि, प्रष्टानि, निधत्तानि, कृतानि, प्रस्थापितानि, अभिनिविष्टानि, अभिसमन्वागतानि, उदीर्णानि, उपशान्तानिं भवन्ति । ततो भवति दूरूपः, दुर्वर्णः, दूरसः, दुःस्पर्शः, अनिष्टः, अकान्तः, अप्रियः, अशुभः, अमनोज्ञः, अमनोमः, हीनस्वरः, दीनस्वरः, अनिष्टस्वरः, अकान्तस्वरः, अप्रियस्वरः, अशुभस्वरः, अमनोज्ञस्वरः, अमनोमस्वरः, अनादेयवचनः, प्रत्याजातश्चापि भवति । वर्णवध्यानि च तस्य कर्माणि नो बद्धानि, प्रशस्तं ज्ञातव्यम् यावत्-आदेयवचनः प्रत्याजातश्चापि भवति ।

तदेवं भगवन् ! तदेवं भगवन् ! इति ।

सूत्रार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! गर्भ में रहा हुआ जीव चित होता है या करवट वाला होता है, आम के समान कुबड़ा होता है, खड़ा होता है, बैठा होता है या पड़ा-सोता होता है ? तथा जब माता सो रही हो तो सोता होता है, जब माता जागती

हो तो जागता है, माता के सुखी होने पर सुखी होता है और माता के दुःखी होने पर दुःखी होता है ?

उत्तर—गौतम ! हाँ, गर्भ में रहा हुआ जीव यावत् जब माता दुःखी हो तो दुःखी होता है। अब, वह ग अगर मस्तक द्वारा या पैरों द्वारा बाहर आवे तो ठीक तर आता है, अगर आड़ा होकर आवे तो मर जाता है। औ उस जीव के कर्म यदि अशुभ रूप में बँधे हों, स्पृष्ट हे निधत्त हों, कृत हों, प्रस्थापित हों, अभिनिविष्ट हों, अभि समन्वागत हों, उदीर्ण हों, और उपशान्त न हों, तो व जीव कुरूप, खराब वर्णवाला, खराब गंध वाला, खराब र वाला, खराब स्पर्श वाला, अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ अमनोज्ञ, अमनाम (जिस का स्मरण भी खराब लगे हीन स्वर वाला, दीन स्वर वाला, अनिष्ट स्वर वाला, अकां स्वर वाला, अप्रिय स्वर वाला, अशुभ स्वर वाला, अमनो स्वर वाला, अमनाम स्वर वाला, अनादेय वचन (जि की बात कोई न माने) हो और यदि उस जीव के क अशुभ रूप में न बंधे हों तो सब प्रशस्त समझना, यावत् वह जीव आदेय वचन वाला, होता है।

'भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन् यह इसी प्रकार है!' गौतम स्वामी ऐसा कह कर विचरते हैं।

व्याख्यान—

गौतम स्वामी ने भगवान् से गर्भ के जीव के विषय में स्वर्ग-नरक संबंधी बात पूछी। आत्मा का स्वर्ग-नरक आदि से प्रगाढ़ संबंध है, फिर भी स्वर्ग नरक तो दूर रहा आत्मा को अपने ही संबंध की बात ठीक तरह समझ में नहीं आती। अनेक ऐसे गूढ़ विषय हैं जो साधारण समझ वालों की समझ में नहीं आते; परन्तु समझ में न आने के ही कारण किसी बात को गलत नहीं मान लेना चाहिए।

अब गौतम स्वामी, भगवान् से ऐसी बात पूछते हैं, जो प्रत्यक्ष में भी दिखाई दे सकती है। गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं-भगवन्! जीव गर्भ में उत्तान-आसन से रहता है यानि चित (ऊपर को मुख किये) सोता है, या करवट लिये रहता है? आम्रकुब्ज आसन से रहता है अर्थात् नीचे सिर और ऊपर पैर-इस प्रकार आम्र फल की भांति रहता है? अथवा खड़ा रहता है, बैठा रहता है या सोता रहता है, ? या यह सब बातें माता पर आधार रखती हैं? अर्थात् माता के खड़े रहने रहने पर खड़ा रहता है, बैठने पर बैठता है और सोने पर सोता

है ? तात्पर्य यह है कि गर्भ का बालक स्वेच्छा से सोता, बैठता और खड़ा रहता है या माता सोने, बैठने और खड़ी होने पर सोता बैठता एवं खड़ा रहता है ?

हम लोगों के लिए गर्भ की बात भूतकाल की हो गई है, परन्तु भूत और भविष्य में गर्भ का क्रम एक-सा ही है। अतएव गर्भ के विषय में माता को सब प्रकार से सावधानी रखने की आवश्यकता है। माता के संस्कारों पर ही सन्तान का शुभ-अशुभ निर्भर है। माता को गर्भ के बालक पर अपनी ओर से तो दया रखनी ही चाहिए, यद्यपि वह बालक भी अपने साथ पुण्य-पाप लाया है। मगर हमें अपने कर्त्तव्य—अकर्त्तव्य को नहीं भूलना चाहिए।

कदाचित् यह कहा जाय कि गर्भ का बालक अपने कर्म भोगता है, उसमें हम हस्तक्षेप क्यों करें ? अथवा हमारे हस्तक्षेप से क्या बन-बिगड़ सकता है ? तो यह कथन भ्रमपूर्ण है। गाय को घरमें बांध कर भूखी प्यासी रक्खो, तो भोजन में अन्तराय देने वाला कौन होगा ? कहा जा सकता है कि गाय भी अपने कर्म भोगती है तो भी तुम्हारी निर्दय भावना से तुम्हें अशुभ कर्म क्यों नहीं बंधेंगे ? शास्त्र में भत्त—पानविच्छेद नामक अहिंसाणुव्रत का अतिचार क्यों बतलाया है ? अगर तुम्हें

भोजन-पानी का अन्तराय देने पर भी पाप नहीं लगता, तो फिर कसाई को बुरा कैसे कहते हो। कसाई भी अपना बचाव इसी प्रकार कर सकता है। वह कह सकता है कि पशु अपने किये कर्म भोगते हैं मैं किसी को क्या मार सकता हूँ! कसाई को बुरा कहना और अपने कर्म भुगतने के लिए किसी जीव को भूखा रहने देकर भी अच्छे बने रहो, यह क्या न्यायसंगत है? कसाई को अपने काम का और दयावान् को दया का बदला मिलेगा। ऐसा न समझ कर, यह कहना कि भूखा रहने वाला अपना कर्म भोगता है, हमें इससे क्या मतलब है, मिथ्या है। ऐसा होने पर तो कसाई भी निर्दोष ठहरेगा और उपदेश की, साधुओं की तथा साधुओं को जीवदया का उपकरण रखने की भी आवश्यकत नहीं रहेगी। जिन जीवों को अपने किये कर्म के अनुसार मरना है, वे मर जाएँगे और जिन्हें जीना है, वे जीवित रहेंगे। फिर जीवरक्षा की सावधानी का प्रयोजन ही क्या है? अगर यही निश्चय ठीक है तो फिर क्षत्रिय लोग तलवार का और साधु ओघे का भार क्यों उठावें? न कोई किसी को मार सकता है, न जिला सकता है, फिर इस खटपट में पड़ने की क्या जरूरत है?

क्षत्रिय लोग रक्षा के लिए या दूसरे को मारने के लिए तलवार रखते हैं, परन्तु साधु जन केवल जीवरक्षा के ही लिए ओघा

रखते हैं। तात्पर्य यह है कि गर्भ के बालक को उसके पुण्य-पाप पर छोड़ देना और उसकी रक्षा के लिए उचित सावधानी न रखना घोर निर्दयता का कार्य है। सच्ची समझदार माता एक क्षण के लिए भी ऐसा क्रूर विचार नहीं कर सकती। खेद है कि कुछ लोग आज गर्भ की रक्षा को भी पाप कहने की धृष्टता करते हैं!

भगवान् ने गौतम स्वामी को बतलाया है कि गर्भ का बालक, माता के सुख से सुखी और दुःख से दुखी होता है। बालक का माता से जितना सम्बन्ध है उतना सम्बन्ध किसी दूसरे से नहीं है। इसी लिए माता को 'देवगुरु संकासा' कहा गया है।

अब गौतम स्वामी, भगवान् से बालक के जन्म-समय की हकीकत पूछते हैं कि बालक कैसे जन्मता है?

किसी-किसी बालक का प्रसव सिर की तरफ से होता है और किसी का पांव की तरफ से होता है। कोई तो पांव और मस्तक से सम होकर जन्मता है और कोई तिर्छा होकर। जब बालक तिर्छा होकर जन्मता है, तब बालक को और माता को कैसी वेदना होती है, यह या तो वही जान सकते हैं या ज्ञानी जान सकते हैं। ऐसे समय के लिए कुछ उपाय है। उपाय करने से बालक अगर सीधा हो गया तब तो ठीक है, नहीं तो बालक

और उसकी माता का घात हो जाता है कई वार माता की रक्षा के लिए गर्भ का बालक काट–काट कर निकाला जाता है।

यह जन्म की वात हुई। अव जन्म के वाद की वात वतलाई जाती है। भगवान् फर्माते हैं—हे गौतम! गर्भ से निकले हुए वालक ने अगर अच्छे वर्ण के काम (पूर्व भव में) नहीं किये हैं तो उसकी स्थिति अच्छी नहीं होती।

कर्म दो प्रकार के हैं–साध्य और असाध्य। कर्मों को न मानना भी मूर्खता है और कर्मों का विपरिणाम न मानना भी मूर्खता है। कर्मवाद के साथ उद्योग वाद भी है। कर्मवाद श्रद्धा करने की चीज है और उद्योगवाद कार्य रूपमें परिणत करने की वस्तु है।

हम सभी लोग गर्भ में रह कर ही वाहर आये हैं, इस वात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। यह भी प्रकट है कि हम लोग आड़े होकर गर्भ से वाहर नहीं निकले। वल्कि सिर या पैरों की ओर से अखण्ड रीति से निकल आये हैं। लेकिन क्या कभी आप इन सव वातों का स्मरण करते हैं? आप एक ऐसे स्थान पर थे, जहां आदमी मर भी जाता है। मगर आप उस स्थान से जीवित ही वच आये। तो अव इस जीवन को वुरी करतूतों में खपा देना अच्छा है या अच्छे कार्यों में लगाना

अच्छा है ? आप इस बात पर विचार कीजिए और दुर्लभ जीवन को सार्थक बनाइए।

गर्भ से—जहाँ बालक मर भी जाता है-क्या आप झूठ, कपट आदि के प्रताप से बच आये ह ? आज आप आनन्द-भोग को ही अपने जीवन का लक्ष्य मानते हैं, मगर क्या आनन्द-भोग के प्रताप से ही आप गर्भ से जीवित निकले हैं ? अगर ऐसा नहीं है तो फिर यही कहना होगा कि आप ने पूर्व जन्म में दया, शील, संतोष आदि की शुभ क्रियाएँ की थीं, उस पुण्य के प्रभाव से ही आप गर्भ से अखंड निकले हैं। वह पुण्य ही आड़ा आया ऐसे खतरनाक स्थान से बचाया है। अब जन्मने के पश्चात् आप उस पुण्य को भूल कर पाप करते हैं, तो क्या कट-कट कर गर्भ से निकलने का ध्यान नहीं है ? आपकी समझ में यह बात आ गई हो तो अपने पापों को काट कर गर्भ में आने के कारण को रोको। चाहे अभी कर्मस्थिति शेष हो और गर्भ में आना भी पड़े, तब भी चेष्टा तो यही करो कि तुम्हें फिर गर्भ में न उपजना पड़े। इस बात का सदैव ध्यान रखना कि जहां से मैं इस स्थिति में जन्मा हूँ, उसी नीच योनि—सूत्रपत्र, पर; जैसे शूकर विष्ठा पर लुभाता है वैसे ही, लुभाकर भोग का कीड़ा क्यों बन रहा हूँ ? इस प्रकार विचार कर परमात्मा से प्रार्थना करना कि-हे नाथ ! मुझे बचा। मैं तेरी आज्ञा पालूँगा।

भगवान् ने गर्भ की तीन दशाओं का वर्णन किया । अब जन्मने के पश्चात् की बात बतलाते हैं ।

यह तो आप सभी लोग जानते हैं कि प्राणी मात्र पूर्वोपार्जित कर्म लेकर आये हैं । परन्तु समझ ने की बात यह है कि पूर्व-कर्म बदले भी जा सकते हैं, या जैसे बंधे हैं वैसे ही रहते हैं ? आस्तिक मात्र पूर्व--कर्म तो मानता है, मगर उनके सम्बन्ध में विशेष बातें न जानने के कारण गड़बड़ी हो रही है ।

पूर्व कर्म दो प्रकार के होते हैं--शुभ और अशुभ । जो कर्म श्लाघ्य से रहित हैं वे अशुभ कर्म कहलाते हैं । अथवा 'बद्ध' का अर्थ 'बाह्य' भी है । अर्थात् श्लाघा-प्रशंसा से जो बाहर हैं, वह सब अशुभ कर्म कहलाते हैं ।

बद्ध कर्म कैसे होते हैं ? कर्म किये बिना नहीं होते । क्रियते--इति कर्म जो किया जाय वह कर्म कहलाता है । सामान्य रूपसे कर्म का बंध होना बद्ध कहलाता है और बंधे हुए कर्मों को विशेष पोषण देना स्पृष्ट कहलाता है ।

बद्ध कर्म को पोषण किस प्रकार दिया जाता है, यह बात समझाने केलिए एक उदाहरण दिया जाता है । किसी खेत में कोई बोई हुई चीज उगती है । उस उगती चीज को जलादि द्वारा पोषण न दिया जाय तो या तो वह सूख जायगी या पैदावार

बहुत कम होगी। इसके विपरीत अगर उसे पोषण मिल गया तो वह विशेष रूप से उत्पन्न होगी। इसी प्रकार एक तो सामान्य रूप से कर्म बांधना और दूसरे इन्हें खूब पोषण देकर ऐसी गाढ़ी तरह से बांध लिया कि फिर उद्वर्त्तन या अपवर्त्तन करण के सिवाय कोई करण न लग सके, इसे निधत्त कहते हैं। तत्पश्चात् कर्मों को घटाया नहीं किन्तु और अधिक पोषण देकर निकाचित कर दिया। निकाचित कर्म-घटते-बढ़ते भी नहीं हैं। उन में कोई भी करण नहीं लगता।

कर्मों को बांधने और पुष्ट करने की बात समझाने के लिए एक उदाहरण लीजिए:—एक आदमी ने पाप किया, यह कर्म का बंध होना कह लाया। फिर किये हुए कर्म की प्रशंसा करके उसे खूब गाढ़ा और पुष्ट बनाया। कदाचित् उस पाप करने वाले को कोई ज्ञानी मिल गया। ज्ञानी ने पापी को समझाया—'देख, भाई! तूने यह पाप—बुरा काम किया है।' ऐसा सुन कर पाप करने वाले को पश्चाताप हुआ। पश्चाताप करते—करते उसके कर्मों का अपवर्त्तन हुआ, अर्थात् विशेष शुभ अध्यवसाय द्वारा पाप कर्म को पुण्य कर्म के रूप में पलट दिया। और ज्ञानी के बदले यदि किसी अज्ञानी की संगति हो गई और अज्ञानी ने उस पाप कर्म की प्रशंसा कर दी, जिससे पाप करने वाला फूल गया-उसने अपने किये पाप पर गर्व हुआ तो इससे कर्म का उद्व-

त्तन हुआ। अर्थात् वह बंधे कर्म और भी अधिक गाढ़े हो गये।

जीव के अध्यवसाय के अधीन ही कर्मों की न्यूनता-अधिकता और तरतमता होती है। दो मित्रों की एक कथा प्रसिद्ध ही है कि उनमें से एक धर्मस्थानक में धर्म क्रिया करने गया और दूसरा वेश्या के घर गया। धर्मस्थानक में जाने वाले ने सोचा अरे यहां क्यों आ फँसा मैं ! मेरा मित्र तो वेश्या के घर पहुँच कर मौज उड़ा रहा होगा और मैं यहां आ पड़ा हूँ ! इसी प्रकार वेश्या के घर जाने वाले मित्र ने विचार किया—ओह ! मैं कितना अभागा हूँ ! मेरा मित्र धर्मस्थानक में पहुँच कर आत्मशोधक क्रियाएँ कर रहा होगा या संतों के श्रीमुख से उपदेश सुन रहा होगा और, मैं इस पापस्थानकमें आकर पाप उपार्जन कर रहा हूँ।

इस प्रकार भावना की विशेपता के कारण कर्म के फल में विशेपता आजाती है अर्थात् अशुभ कर्म शुभ रूप में और शुभ कर्म अशुभ रूप में पलट जाता है।

शास्त्र के अनुसार कर्मों का फल भली भांति समझ लेने से बेड़ा पार हो जाता है। यों तो वेश्या के घर कभी कोई ही शुद्ध आशय वाला जाता होगा, क्यों कि वेश्या की संगति नीच संगति है। इसी प्रकार साधुओं के यहां पाप भावना वाला भी कोई-कोई ही होता है; साधारणतया साधुओं की संगति उत्तम ही है।

ऊपर बद्ध आदि के भेद से कर्म की चार अवस्थाएँ बतलाई गई हैं। शास्त्र कहते हैं कि आत्मा अपने साथ पूर्वजन्म के कर्म लेकर आया है। एक के ऊपर दूसरी और दूसरी पर तीसरी सुई रख दी जाय तो जरा-सा धक्का लगते ही वह बिखर जाती हैं। अगर उन्हें धागे से बांध दिया जाय तो कुछ मिहनत से वह खुलेंगी। अगर वह लोहे के तार से बँधी हों तो किसी शस्त्र का उपयोग करने पर ही वह खुलेंगी। लेकिन किसी ने उन्हें गर्म करके घन से कूट दिया तो वे किसी भी प्रकार नहीं खुल सकतीं। उनका नामरूप भी बदल जायगा। वे सुई के रूप में तभी हो सकेंगी, जब फिर से उनका निर्माण किया जाय। इसी प्रकार कर्म चार प्रकार से बँधते हैं। उनमें से तीन प्रकार से बँधे कर्म तो किसी सहायता से नष्ट किये जा सकते हैं। परन्तु चौथे प्रकार के कर्म भोगे बिना नहीं छूट सकते। ऐसे कर्म निकाचित कर्म कहलाते हैं। निकाचित कर्म में करण का प्रयोग नहीं होता। उन्हें तोड़ने का इरादा ही नहीं होता। जिस जीव के निकाचित कर्म बँधे हैं, उसमें ऐसी शुभ भावना उत्पन्न नहीं होती। लेकिन इससे किसी को निराश होने की आवश्यकता नहीं। जो निकाचित कर्म बद्ध हो गये हैं, उन्हें भोगना ही पड़ेगा, किन्तु जो नये शुभ कर्म बँधेंगे, वह निरर्थक नहीं जाएँगे।

जो कर्म बांधे जाते हैं, वे आटे पिण्ड के समान एक रूप

में मिले रहते हैं, फिर भी उनकी जो अलग-अलग व्यवस्था की जाती है, उसे 'पट्ठवियाइं' समझना चाहिए। उदाहरणार्थ—गति नाम कर्म के पुद्‌गल इकट्ठे किये। परन्तु इन एकत्रित किये पुद्‌गलों से मनुष्य बनना अथवा पशु बनना, इस व्यवस्था को 'पट्ठवियाइं' कहेंगे। तात्पर्य यह है कि गृहीत कर्म पुद्‌गलों का विभाग करना 'पट्ठवियाइं' है।

उदयमें आने वाले नामादिक कर्मों की स्थापना 'पट्ठवियाइं' है। 'अभिनिविट्ठाइं' का अर्थ है—तीव्र फल देने वाले के रूप में परिणत करना अर्थात् जो कर्म तीव्र फल देने वाले हैं वह 'अभिनिविष्ट' कहलाते हैं। कर्म बंधने और फल देने के बीच का काल अबाधाकाल कहलाता है। उस अबाधाकाल की समाप्ति अर्थात् कर्म के फल देने को उदय कहते हैं। कर्म का उदय दो प्रकार से होता है—एक तो स्थिति पकने से, दूसरे उदीरणा से। ज्ञानीजन उदीरणा द्वारा कर्मों को उदय में ले आते हैं। कर्म की नियत अवधि से पहले ही तपस्या आदि के द्वारा कर्मों को फल देने के अभिमुख कर लेना उदीरणा है।

शास्त्रकार का कथन है कि जन्मे बालक के कर्म अच्छे होंगे तो वह बालक अच्छा होगा; कर्म बुरे होंगे तो वह बालक भी बुरा होगा। अशुभ कर्म वाला बालक कुरूप होता है, कुत्सित वर्ण वाला होता है, उसके शरीर से दुर्गंध आती है, खराब रस

वाला होता है, खराब स्पर्श वाला होता है। वह अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ और अमणाम (जिसका स्मरण करना भी अच्छा न लगे) होता है। उसका स्वर भी दीन, हीन, अनिष्ट, अकान्त आदि पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त होता है। कोई उसकी बात नहीं मानता। शुभ कर्मों वाला इससे सभी बातों में विपरीत शुभ होता है।

गौतम स्वामी बोले—भगवन्! ऐसा ही है, ऐसा ही है! यह कह कर वे संयम तप में विचरने लगे।

इतिश्री विवाह प्रज्ञप्ति सूत्र के प्रथम शतक का सप्तम उद्देश्य समाप्त।